सन्मति-ग्रन्थरत्नमाला का १२वाँ रत्न

जैनत्व की झाँकी

उपाध्याय अमर मुनि

हिन्दी, गुजराती और कन्नड़ भाषा में अब तक
बीस हजार से अधिक प्रकाशित
मराठी और तमिल में अनुवाद

के पथ पर

अब तक के हिन्दी संस्करण
प्रथम संस्करण १९४९
२२००
द्वितीय संस्करण १९५२
२२००
तृतीय संस्करण १९५७
३३००
चतुर्थ संस्करण १९६
४२००

पुस्तक—
जैनत्व की झांकी
लेखक—
उपाध्याय अमरमुनि
प्रकाशक—
सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा–२
परिवर्धित चतुर्थ संस्करण,
मार्च १९६७
मूल्य : १.२५
मुद्रक—अर्जुन प्रिंटिंग प्रेस।

प्रकाशकीय

आज से लगभग दो दशक पूर्व श्रद्धेय उपाध्याय कवि श्री अमरमुनिजी ने जैन-धर्म, दर्शन, संस्कृति, इतिहास और सिद्धान्त का परिचय देने वाली एक महत्वपूर्ण पुस्तक का प्रणयन किया था—जिसे 'जैनत्व की झाँकी' के नाम से हम जानते हैं।

जैन धर्म के प्राथमिक परिचय से लेकर अनेकान्तवाद, कर्म-वाद जैसे गम्भीर विषयों तक की तलस्पर्शी चर्चा, जैन संस्कृति और इतिहास का विहंगम अवलोकन, और जैन धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का सारग्राही तटस्थ विश्लेषण यदि कोई पाठक आधु-निक भावभाषा के साथ किसी एक ही पुस्तक में देखना चाहे तो उसे सर्वप्रथम यदि किसी पुस्तक का नाम बताया जा सकता है तो वह है 'जैनत्व की झाँकी।'

इस पुस्तक की उपयोगिता जितनी जिज्ञासुओं और विद्या-र्थियों के लिए है, उतनी ही उपदेशकों और लेखकों के लिए भी है। हमारा यह विश्वास पिछले दो दशक के अनुभव से स्थिर हुआ है। विभिन्न पाठकों के पत्र, साहित्यकार और पत्र-पत्रिकाओं के अभिमत से बलवान बना है, और इसकी बढ़ती हुई मांग, तथा विभिन्न भाषा में होने वाले अनुवाद इस विश्वास को और सुदृढ़ बना रहे हैं।

हिन्दी के अतिरिक्त, गुजराती, मराठी, कन्नड़ और तमिल भाषा में भी इसके अनुवाद हो चुके हैं और हो रहे हैं। गुजराती और कन्नड़ भाषा में तो द्वितीय संस्करण भी हो चुके हैं। आशा है इसका अंग्रेजी अनुवाद भी शीघ्र ही प्रकाश में आ जाये। अंग्रेजी भाषा के अनुवाद की पिछले वर्षों में कई बार मांग आ चुकी है, पर अभी तक कुछ कारणों से वह रुका हुआ है।

यह चतुर्थ संस्करण पिछले संस्करणों से कुछ भिन्न प्रतीत हो सकता है। कुछ पुराना घटा दिया गया है, कुछ नवीन जोड़ दिया गया है।

उपाध्याय श्री अमरमुनि जी ने इसका पुनः सूक्ष्म अवलोकन करके महत्वपूर्ण संशोधन और परिवर्धन के द्वारा पुस्तक की युगीन उपयोगिता को जीवित बना दिया है।

अन्त में हम अपने श्रद्धेय बहुश्रुत विद्वान् उपाध्याय कवि श्री अमरमुनि जी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं जिन्होंने जैन धर्म के सहस्रों जिज्ञासु पाठकों के लिए इस प्रकार की मौलिक और सुन्दर पुस्तक का प्रणयन किया है।

आशा है यह चतुर्थ संस्करण पिछले संस्करणों से अधिक उपयोगी और जनप्रिय होगा। इसी आशा के साथ..............

—मन्त्री
सन्मति ज्ञान पीठ,
आगरा

अनुक्रमणिका

जैनत्व की झाँकी

—उपाध्याय अमरमुनि

स्याद्वादो वर्तते यस्मिन्,
पक्षपातो न विद्यते ।
नास्त्यन्यपीडनं किंचिद्,
जैनधर्मः स उच्यते ॥

* *

अनेकान्त की दृष्टि जहाँ है,
और न पक्षपात का जाल ।
मैत्री करुणा सब जीवों पर,
जैनधर्म है वह सुविशाल ॥

1
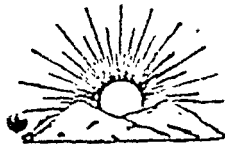
साधना का लक्ष्य है जीवन की दिव्यता प्राप्त करना। दिव्यता प्राप्त करने के लिए आदर्श-रूप में 'देव' की उपासना और भक्ति आवश्यक है, किन्तु इससे पहले यह भी जान लेना चाहिए कि 'देव' किसे कहते हैं ?

देव

जैन धर्म विश्व का एक महान धर्म है। इसकी आधार शिला भौतिक विजय पर नहीं, आध्यात्मिक विजय पर है। वह बाहर का धर्म नहीं, अन्दर में आत्मा का धर्म है। अधिक गहराई में नहीं जाकर केवल 'जैन' शब्द पर ही विचार करें तो इस सत्य का मर्म स्पष्ट हो सकता है।

जैन का अर्थ है—'जिन' को मानने वाला। जो जिन को मानता हो, जिन की भक्ति करता हो, जिन की आज्ञा में चलता हो और जो अपने अन्दर में जिनत्व के दर्शन करता हो, जिनत्व के पथ पर चलता हो, वह जैन कहलाता है।

'जिन' का अर्थ

प्रश्न हो सकता है, 'जिन' किसे कहते हैं? 'जिन' का अर्थ है, जीतने वाला। किसको जीतने वाला ? अपने असली शत्रुओं को जीतने वाला। असली शत्रु कौन हैं ? असली शत्रु राग और द्वेष हैं। बाहर के कल्पित शत्रु इन्हीं के कारण पैदा होते हैं।

'राग' किसे कहते हैं ? मन पसंद चीज पर मोह। 'द्वेष' क्या है ? नापसंद चीज पर घृणा। ये राग और द्वेष दोनों साथ रहते हैं। जिसको राग होता है, उसे किसी के प्रति द्वेष भी होता है और जिसे द्वेष होता है, उसे किसी के प्रति राग भी होता है।

राग और द्वेष ही असली शत्रु क्यों हैं ? इसलिए शत्रु हैं कि ये हमें अनेक प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक दुःख देते हैं, हमें वासना का दास बनाये रखते हैं। हमारा नैतिकपतन करते हैं, हमारी आत्मा की आध्यात्मिक उन्नति नहीं होने देते। राग के कारण माया और लोभ उत्पन्न होते हैं और द्वेष के कारण क्रोध तथा मान उत्पन्न होते हैं। अतः क्रोध, मान (गर्व) माया (कपट) और लोभ को जीतने वाला ही सच्चा 'जिन' है।

'जिन' के विभिन्न नाम

'जिन' राग और द्वेष से बिल्कुल रहित होते हैं, इसलिए उनका नाम 'वीतराग' भी है। राग और द्वेष रूपी असली शत्रुओं का हनन अर्थात् नाश करते हैं, इसलिए ये 'अरिहन्त' भी कहलाते हैं, अरि=शत्रु, हन्त=नाश करने वाला।

जिन को 'अर्हत्' भी कहते हैं। अर्हत् का क्या अर्थ है ? अर्हत् का अर्थ है—योग्य। किस बात के योग्य ? पूजा करने के योग्य। महापुरुष राग-द्वेष को जीत कर 'जिन' हो जाते हैं, अतः वे संसार के पूजने योग्य हो जाते हैं। पूजा का विशुद्ध अर्थ-भक्ति है। अतः जो महापुरुष राग-द्वेष को जीतने के कारण संसार के लिए पूजा यानी भक्ति करने के योग्य हो जाते हैं, वे अर्हत् कहलाते हैं। भक्ति का अर्थ बाहर में कहीं फल, फूल, चन्दन या प्रसाद चढ़ाना आदि नहीं है। भक्ति का अर्थ है—बिना किसी स्वार्थ के दिव्य आत्माओं का सम्मान करना, उनके प्रति श्रद्धा रखना और उनके बताये हुए सत्पथ पर चलना।

जिन को 'भगवान्' भी कहते हैं। भगवान् का क्या अर्थ है ? भगवान का अर्थ है—ज्ञानवाला। राग और द्वेष को पूर्ण रूप से नष्ट करने के बाद केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। केवल

ज्ञान के द्वारा जिन भगवान् विश्व के अतीत, अनागत और वर्तमान सब रहस्यों को सूर्य-प्रकाश के समान स्पष्ट रूप से जान लेते हैं।

जिन भगवान् को 'परमात्मा' भी कहा जाता है। परमात्मा का अर्थ है, परम=शुद्ध आत्मा। जो परम=शुद्ध, आत्मा= चेतन हो, वह परमात्मा है। राग-द्वेष को नष्ट करने के वाद ही आत्मा शुद्ध होता है, और परमात्मा वनता है।

देव कौन ?

जैन धर्म संसार के क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी देवताओं को अपना इष्ट देव नहीं मानता हैं। भला जो स्वयं काम, क्रोध आदि के विकारों में फँसे हैं; वे दूसरों को विकार-रहित होने के लिए क्या आदर्श हो सकते हैं ? इसलिए जैन धर्म में सच्चे देव वे ही माने गये हैं, जो राग-द्वेष को जीतने वाले हों, कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट करने वाले हों, अनन्त एवं अक्षय ज्ञान वाले हों, परम शुद्ध आत्मा हों।

प्रश्न हो सकता है कि इस प्रकार राग और द्वेष के जीतने वाले जिन भगवान् कौन हुए हैं ? एक दो नहीं, अनन्त हो गए हैं। जानकारी के लिये एक दो प्रसिद्ध नाम वताए जाते हैं ?'

वर्तमान काल-चक्र में सवसे पहले 'जिन' भगवान् 'ऋषभ देव' हुए हैं। यह भारतवर्ष की सुप्रसिद्ध अयोध्या नगरी के राजा थे। उन्होंने सर्वप्रथम राजा के रूप में न्याय-नीति के साथ प्रजा का पालन किया, और वाद में संसार त्याग कर मुनि वने एवं राग-द्वेष को क्षय करके जिन भगवान् हो गए, पूर्ण मुक्त हो गए।

भगवान् नेमिनाथ, भगवान् पार्श्वनाथ, और भगवान् महावीर भी जिन भगवान् थे। ये महापुरुष राग और द्वेष को

पूर्ण रूप से नष्ट कर चुके थे, केवल ज्ञान पा चुके थे। अपने-अपने समय में इन्होंने जनता में अहिंसा और सत्य की प्राण-प्रतिष्ठा की, और राग-द्वेष पर विजय पाने के लिए सच्चे आत्म-धर्म का उपदेश देकर आत्मा को परमात्मा बनाने का मार्ग प्रशस्त किया।

व्यक्ति पूजा या गुण-पूजा ?

जैनधर्म व्यक्ति-पूजक धर्म नहीं है, गुण-पूजक धर्म है। इसलिए वह केवल अपने सम्प्रदाय के ही वीतराग आत्माओं को भगवान् मानता हो, यह बात नहीं है। विश्व की जो भी आत्माएँ राग-द्वेष को पूर्ण रूप से जीत कर, क्षय कर सदाकाल के लिए बन्धन-मुक्त हो जाते हैं, वे जिन भगवान् हो जाते हैं। इसलिए जैनधर्म वीतराग होने पर राम और हनुमान आदि महापुरुषों को भी जिन भगवान् मानता है।

* *
*

२

अन्धकार में भटकते हुए मनुष्य को किसी ऐसे पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता होती है जो उसे नि.स्वार्थ भाव से दिव्य प्रकाश का दर्शन करा सके। साधना की भाषा में हम उस पथ-प्रदर्शक को 'गुरु' कहते हैं, जिसके स्वयं के जीवन में दिव्य गुणों का प्रकाश उतर चुका हो, और जो जन-जीवन को भी उसी प्रकाश की ओर ले चलता हो।

गुरु

मानव हृदय के अन्धकार को दूर करने वाला कौन होता है ? यह प्रश्न धर्म और दर्शन के क्षेत्र में अनादि काल से चला आ रहा है। संसार का सबसे सघन अन्धकार मनुष्य के अपने ही मन में है, और उस अन्धकार को दूर करना ही धर्म-साधना का एक मात्र लक्ष्य है। यह अन्धकार कौन दूर कर सकता है, आइए इस प्रश्न पर विचार करें।

मनुष्य के मन के अज्ञान अन्धकार को दूर करने वाला और ज्ञान का प्रकाश फैलाने वाला गुरु होता है। गुरुदेव के बिना दुनिया के भोग-विलासों में भूले हुए प्राणी को अन्य कौन सत्य मार्ग बता सकता है ? ज्ञान की आँखें गुरु ही देता है।

परन्तु प्रश्न है कि गुरु कौन होते हैं ? सच्चे गुरु का क्या लक्षण है ? जैन धर्म में गुरु किसे कहते हैं ? जैन धर्म में गुरु का महत्त्व बहुत बड़ा है, परन्तु है वह सच्चे गुरु का।

गुरु के लक्षण

जैनधर्म अन्ध श्रद्धालु धर्म नहीं है, जो हर किसी दुनिया-दार भोग-विलासी आदमी को गुरु मानकर पूजने लगे। वह गुणों की पूजा करता है, शरीर और वेश की नहीं। जैनधर्म चैतन्य आत्म-देव की पूजा करने वाला है। इसलिए वह आध्यात्मिक गुणों का पुजारी है।

हाँ तो जैन धर्म में वही त्यागी आत्मा गुरु माना जाता है, जो धन-दौलत का त्यागी हो, धन सम्पत्ति आदि के संसारी प्रपंचों से रहित हो, अहिंसा सत्य आदि व्रतों का स्वयं आचरण करता हो, और उन्हीं का विना किसी लोभ-लालच के जन-कल्याण की भावना से उपदेश देता हो। सच्चा गुरु वही है, जो आत्मा से परमात्मा वनने के आदर्श को सामने रख कर अपने विशुद्ध विचार तथा विशुद्ध आचार से उस आदर्श को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो।

जैन धर्म में त्याग का महत्व है। भोग-विलासों को त्याग कर आध्यात्मिक साधना करना ही यहाँ श्रेष्ठ जीवन का लक्षण है। यही कारण है कि जैन साधुओं का तपश्चरण की दृष्टि से वड़ा ही कठोर जीवन होता है। जैन साधु कड़ी-से-कड़ी सरदी पड़ने पर भी आग नहीं तापते। प्यास के मारे कण्ठ सूख जाने पर भी सचित्त (कच्चा) पानी नहीं पीते। चाहे जितनी भूख लगी हो, पर, कन्द मूल फल आदि कच्ची सब्जी नहीं खाते। आग और हरी सब्जी का स्पर्श भी नहीं करते। सूर्य के अस्त होने पर रात में भोजन नहीं करते हैं, और तो क्या, रात में पानी भी नहीं पीते हैं। बुढ़ापा या वीमारी होने पर भी पैदल ही चलते हैं, कोई भी सवारी काम में नहीं लाते। पैरों में जूते नहीं पहनते। किसी भी शराव आदि नशीली चीज को काम में

नहीं लाते। पूर्ण ब्रह्मचर्य पालते हैं, स्त्री को छूते तक नहीं। रुपया पैसा आदि कुछ भी धन पास नहीं रखते।

पाँच महाव्रत

जैन साधुओं के पाँच महाव्रत बतलाए हैं, जो प्रत्येक साधु को, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, अवश्य पालन करने होते हैं :—

अहिंसा :

मन से, वचन से शरीर से किसी भी जीव की हिंसा न स्वयं करना, न दूसरों से करवाना, न करने वालों का अनुमोदन=समर्थन करना।

सत्य :

मन से, वचन से, शरीर से स्वयं झूठ न बोलना, न दूसरों से बुलवाना, न बोलने वालों का अनुमोदन करना।

अचौर्य :

मन से, वचन से, शरीर से न स्वयं चोरी करना, न दूसरों से करवाना, न करने वालों का अनुमोदन करना।

ब्रह्मचर्य :

मन से, वचन से, शरीर से मैथुन=व्यभिचार न स्वयं सेवन करना, न दूसरों से करवाना, न करने वालों का अनुमोदन करना।

अपरिग्रह :

मन से, वचन से, शरीर से परिग्रह=धन आदि न स्वयं रखना, न दूसरों से रखवाना, न रखने वालों का अनुमोदन करना।

जैन साधु का जीवन तप और त्याग की सच्ची तस्वीर होती है। इतने कठोर नियमों का पालन हर कोई नहीं कर सकता।

यही कारण है कि जैन साधु संख्या में बहुत थोड़े हैं, जब कि देश में हर तरफ साधुओं की भरमार है। आज छप्पन लाख साधु नाम-धारियों की फौज भारतवर्ष के लिए सिरदर्द बन रही है। अतः हर किसी को गुरु नहीं बना लेना चाहिए। कहा है— "गुरु कीजे जान कर, पानी पीजे छान कर।"

जैन धर्म का गुरुत्व केवल साम्प्रदायिक वेशभूषा तथा बाह्य क्रियाकाण्ड में ही सीमित नहीं है। जैन धर्म आध्यात्मिक धर्म है, अतः उसका गुरुत्व भी आध्यात्मिक भाव ही है। बिना किसी देश और काल के बन्धन के, बिना किसी साम्प्रदायिक अभिनिवेश के जो भी आत्मा अहिंसा और सत्य आदि की पूर्ण साधना में संलग्न है, अन्तरंग में वीतराग भाव की ज्योति जला रहा है, वह कोई भी हो, जैन धर्म का गुरु है।

* * *

३

धर्म आत्मा का अनन्त दिव्य प्रकाश है। वह बाहर में नहीं, अन्दर में है। परन्तु संसार में धर्म के नाम पर अधर्म की मिलावट होती रही है, जिससे सच्चे धर्म को पहचानना प्रायः कठिन हो जाता है। इसलिए यह जरूरी है कि हम धर्म के असली स्वरूप को समझें, और फिर उस पर निष्ठापूर्वक आचरण करें।

धर्म

धर्म का क्या अर्थ है? जो दुःख से, दुर्गति से, पापाचार से, पतन से बचाकर आत्मा को ऊँचा उठाने वाला है, धारण करने वाला है, वह धर्म है।

सच्चा धर्म क्या है? 'जिससे किसी को दुःख न पहुंचे' ऐसा जो भी अच्छा विचार और अच्छा आचार है, वही सच्चा धर्म है। क्या जैन धर्म सच्चा धर्म है? हाँ, वह अच्छे विचार और अच्छे आचार वाला धर्म है, इसलिए सच्चा धर्म है।

जैन धर्म का क्या अर्थ है? जिन भगवान् का कहा हुआ धर्म, वह जैन धर्म है। जिन भगवान् कौन? जो राग-द्वेष को जीत कर पूर्ण पवित्र और निर्मल आत्मा हो गए हैं, वे जिन भगवान हैं, श्री पार्श्वनाथ, महावीर आदि।

जैन धर्म : निर्ग्रन्थ धर्म भी है

जैन धर्म के क्या दूसरे भी कुछ नाम हैं? हाँ, अहिंसा धर्म, स्याद्वाद धर्म, आर्हत धर्म, निर्ग्रन्थ धर्म आदि। जैन धर्म में अहिंसा

का वड़ा महत्व है, इसलिए वह अहिंसा धर्म है। स्याद्वाद का अर्थ पक्षपात-रहितता है, इसलिए पक्षपात-रहित होकर तटस्थ भाव से सत्य का उपासक होने से जैन धर्म स्याद्वाद धर्म है। 'अर्हत्' जिन भगवान् को कहते हैं, इसलिए उनका बताया हुआ धर्म, आर्हत धर्म है। निर्ग्रन्थ का अर्थ परिग्रह-रहित होना है। जैन धर्म परिग्रह का अर्थात् धन-सम्पत्ति के संग्रह-सम्बन्धी मोह का त्याग वतलाता है, इसलिए वह निर्ग्रन्थ-धर्म है।

जैन धर्म अनादि है

जैन धर्म कबसे चला ? जैन धर्म नया नहीं चला है, वह अनादि है। अहिंसा और दया ही तो जैन धर्म है। संसार में जिस प्रकार दुःख अनादि है, उसी प्रकार जीवों को दुःख से बचाने वाली अहिंसा एवं दया भी अनादि है। इसलिए अनादि अहिंसा और दया का विशुद्ध मार्ग ही जैन धर्म कहलाता है।

जिन भगवान् का कहा हुआ धर्म ही तो जैन धर्म है, इस लिए अनादि कैसे हुआ ? जिन भगवान् कोई एक नहीं हुए हैं। पूर्वकाल में रागद्वेष को जीतने वाले जिन भगवान् अनन्त हो गए हैं, और भविष्य में भी अनन्त होते रहेंगे, अतः जैन धर्म अनादि काल से चला आता है, समय-समय पर होने वाले जिन भगवान् उसे अधिकाधिक प्रकाशित करते हैं, देश-काल की परिस्थिति के अनुसार उसकी नवीन पद्धति से पुनःस्थापना करते हैं। जिन भगवान् जैन धर्म के चलाने वाले नहीं, वरन् उसका समय-समय पर सुधार करने वाले उद्धारक हैं।

जैन कौन हो सकता है ?

सच्चा जैन किसे कहते हैं ? धर्म का मूल दया है। जो जीव-मात्र को अपने समान समझकर उनकी हिंसा से बचता है, प्राणी मात्र के लिए दया भाव रखता है, वह सच्चा जैन है।

जैन धर्म का पालन कौन कर सकता है? जैन धर्म का कोई भी भव्य प्राणी पालन कर सकता है। जैन धर्म में जाति और देश का प्रतिबन्ध नहीं है। किसी भी जाति का और किसी भी देश का मनुष्य जैन धर्म का पालन कर सकता है। हिन्दू हो, मुसलमान हो, ईसाई हो, ब्राह्मण हो, चाण्डाल हो, कोई भी क्यों न हो, जो जैन धर्म का पालन करे, अपनी आत्मा को आध्यात्मिक पवित्रता के पथ पर ले चले, अन्दर में जिनत्व की ज्योति जगा सके, वह जैन है।

जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्त

जैन धर्म का सिद्धान्त बहुत गम्भीर है। अतः उसका पूरा परिचय तो जैन धर्म के प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन से ही हो सकता है। हाँ, संक्षेप में जैन धर्म के मोटे-मोटे सिद्धान्त इस प्रकार हैं :—

१. जगत अनादि और अनन्त है।
२. आत्मा अजर अमर है।
३. आत्मा अनन्त हैं।
४. आत्मा ही परमात्मा होता है।
५. आत्मा चैतन्य है।
६. कर्म जड़ है।
७. आत्मा की अशुद्ध-स्थिति ही संसार है।
८. आत्मा की पूर्ण शुद्ध अवस्था ही मोक्ष है।
९. आत्मा की अशुभ प्रवृत्ति पाप है।
१०. आत्मा की शुभ प्रवृत्ति पुण्य है।
११. शुद्ध आचरण ही श्रेष्ठ धर्म है।
१२. धर्म-साधना में जाति-पांति का कोई भेद नहीं है।
१३. अहिंसा ही उत्कृष्ट धर्म है।

* *
*

४

जब तक सत्य को समझने की दृष्टि सम्यग् (सही) नहीं है, तब तक ज्ञान भी सम्यक् (सही) नहीं हो सकता। और जब तक किसी वस्तु का सम्यग् ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक उस पर सम्यक् आचरण कैसे किया जाय? और बिना सम्यक् आचरण किये संसार-सागर को तैर कर पार नहीं किया जा सकता। इसलिए प्रस्तुत निबन्ध में तैरने के उन सम्यक् साधनों का ज्ञान कराया गया है।

तीन रत्न

तीर्थङ्कर किसे कहते हैं?

'तीर्थ' तैरने के साधन को कहते हैं। जो संसार सागर से स्वयं तैर कर, पार होकर अन्य मुमुक्षु भव्य जीवों को तैरने के साधनों का उपदेश करता है, तैरने के साधनों का प्रचार करता है, वह 'तीर्थङ्कर' है। भगवान् महावीर आदि जिन भगवान् तीर्थङ्कर कहलाते हैं।

तैरने के साधन

संसार-सागर से तैरने के साधन तीन हैं—(१) सम्यग् दर्शन, (२) सम्यग् ज्ञान, (३) और सम्यक् चारित्र।

सम्यग् दर्शन

'देव', वीतराग अरिहन्त भगवान्, 'गुरु', आत्म-साधक निर्ग्रन्थ साधु, और 'धर्म', अहिंसा सत्य आदि आत्मधर्म—इन तीनों की सच्ची श्रद्धा का नाम ही सम्यग् दर्शन है।

सम्यग् दर्शन का ही दूसरा नाम सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व का अर्थ है—सच्चाई। विवेकपूर्वक जाँच-पड़ताल करके सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे धर्म को मानना ही सम्यक्त्व है। जो इस प्रकार के सम्यक्त्व को धारण करे, वह साधक सम्यग् दृष्टि या सम्यक्त्वी कहलाता है।

सम्यग् ज्ञान

वस्तु के स्वरूप को यथार्थ रूप से जानना, अर्थात् जैसा है वैसा समझना 'सम्यग् ज्ञान' है। जीव, अजीव, पाप, पुण्य, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इन नौ तत्वों का यथार्थ रूप से ज्ञान करना, सम्यग् ज्ञान है। सम्यग् ज्ञान पूर्ण रूप से अरिहन्त-दशा में प्राप्त होता है। जब आत्मा राग-द्वेष का क्षय कर केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब वह पूर्ण ज्ञानी हो जाता है।

सम्यक् चारित्र

सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान के अनुसार यथार्थ रूप से अहिंसा एवं सत्य आदि सदाचार का पालन करना ही सम्यक् चारित्र है। गृहस्थ का सम्यक् चारित्र अपूर्ण होता है, और साधु का सम्यक् चरित्र पूर्ण होता है। साधु के सम्यक् चारित्र की पूर्णता भी केवल ज्ञान होने के बाद मोक्ष में जाने से कुछ समय पहले ही होती है। वीतराग आत्मा की मन, वचन और शरीर से पूर्ण निष्प्रकम्प अर्थात् अचंचल स्थिर अवस्था का नाम ही पूर्ण चारित्र है, और वह इसी समय प्राप्त होता है। सम्यक् चारित्र के पूर्ण होते ही आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

पहले सम्यग् दर्शन होता है। सम्यग् दर्शन के होते ही उसी क्षण सम्यग् ज्ञान हो जाता है। और इसके बाद में सम्यक् चारित्र होता है। सम्यग्दर्शन अर्थात् सच्ची श्रद्धा के बिना ज्ञान,

सम्यग् ज्ञान नहीं होता; अज्ञान ही रहता है। और सम्यग् दर्शन तथा सम्यग् ज्ञान के विना चारित्र, सम्यक् चारित्र नहीं होता।

जैन धर्म में उक्त सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को रत्न कहते हैं। आत्मा की अनादिकालीन आध्यात्मिक दरिद्रता इन्हीं तीनों के द्वारा मिटती है, अतः इन तीनों की 'रत्नत्रय' के नाम से प्रसिद्धि है। वस्तुतः आत्मा का यही अन्तरंग आध्यात्मिक ऐश्वर्य है। इस अन्तरंग ऐश्वर्य के द्वारा ही आत्मा को सच्चा आनन्द प्राप्त हो सकता है।

* * *

-५

जब मनुष्य भोग-भूमि में अपनी वैयक्तिक सीमा में बद्ध होकर निर्द्वन्द्व विचर रहा था, तब सभ्यता और संस्कृति का प्रश्न उसके सामने नहीं था, उस युग में मानवीय चेतना को उद्बुद्ध करके उसके पुरुषार्थ को भौतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति की दिशा में प्रेरित किया भगवान् ऋषभदेव ने। धर्म एवं संस्कृति के प्रथम उपदेशक भगवान् ऋषभदेव की यह जीवन झांकी देखिए।

भगवान् ऋषभदेव

भगवान् ऋषभदेव कब हुए? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें मानव-सभ्यता के आदिकाल में जाना होगा। वह आदिकाल, जब न गाँव बसे थे और न नगर, न खेती-बाड़ी का धंधा था और न दूकानदारी, न कोई कला थी और न कोई उद्योग, सब लोग वृक्षों के नीचे रहते थे, और कन्द मूल एवं वन-फल खाकर जीवन-यापन करते थे। मानव-जीवन का कोई महान् उद्देश्य तब की जनता के सामने नहीं था। जीवन सुखमय अवश्य था, किन्तु कर्तव्य-शून्य। जैन परिभाषा में यह काल युगलियों का काल था; वर्तमान अवसर्पिणी का तीसरा सुषमा-दु:षमा 'आरक' समाप्त होने को था।

भगवान् ऋषभदेव, इसी युग के जन-नायक अन्तिम कुलकर श्री नाभिराजा के सुपुत्र थे। उनकी माता का नाम मरुदेवी था। भगवान् ऋषभदेव का बाल्यकाल इसी यौगलिक सभ्यता में गुजरा।

ऋषभदेव का युग

काल-चक्र बदल रहा था। प्रकृति का वैभव क्षीण होने लगा और जो वृक्ष थे, वे भी फूल-फल कम देने लगे। इधर उपभोग करने वाली जन-संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ रही थी। जीवनोपयोगी साधन कम हों और उनका उपभोग करने वाले अधिक हों, तब बताइए, क्या हुआ करता है? संघर्ष, द्वन्द्व, लड़ाई झगड़ा! शान्त यौगलिक जनता में संग्रह-बुद्धि पैदा हो गई, भविष्य की चिन्ता ने निःस्पृहता एवं उदारता कम करदी और इसके फलस्वरूप आपस में वैर-विरोध, घृणा, द्वेष बढ़ने लगा। निष्क्रिय भोग-भूमि से सक्रिय कर्म-भूमि का आरम्भ काल था।

समय को परखने वाले श्री नाभिराजा ने अब जन-नेतृत्व का भार अपने सुयोग्य पुत्र ऋषभ को सौंप दिया। बड़ा कठिन समय था वह। मानवजाति का भाग्य आशा और निराशा के बीच झूल रहा था। उस समय मानवजाति को एक सुयोग्य कर्मठ नेता की आवश्यकता थी, और वह श्री ऋषभदेव के रूप में उसे मिल गये।

भगवान् ऋषभदेव ने जनता का नेतृत्व बड़ी कुशलता और योग्यता से किया। उनके हृदय में मानवजाति के प्रति अपार करुणा उमड़ रही थी। मानवजाति को विनाश के भयंकर गर्त से बचाने के लिए, उन्होंने दिन-रात एक कर दिया। भगवान् ने जीवनोपयोगी साधनों के उत्पादन और संरक्षण का सब प्रकार से क्रियात्मक उपदेश दिया। वृक्षों को सींचने की, नये वृक्ष लगाने की, अन्न पकाने की, व्यापार करने की, पात्र बनाने की, वस्त्र बनाने की, रोग-चिकित्सा की, सन्तान के पालन-पोषण आदि की सब पद्धतियाँ बतलाईं। गाँव कैसे बसाएँ, नगरों का निर्माण कैसे करें, गरमी-सरदी और वर्षा से बचने के लिए घर कैसे बनाएँ

यह सब कलाएँ जनता को सिखलाईं। भारतवर्ष की सर्वप्रथम नगरी, भगवान् ऋषभदेव के तत्त्वावधान में बनी और उसका नाम 'विनीता' रखा गया; जो आगे चल कर अयोध्या के नाम से प्रसिद्ध हुई। उन्होंने मनुष्यों को निःसहाय, प्रकृतिमुखापेक्षी रहने के बदले पुरुषार्थ का पाठ पढ़ाया और प्रकृति को अपने नियंत्रण में कर उससे मन चाहा काम लेना सिखलाया। प्रकृति पर अधिकार पाने की ओर मनुष्य की यह सर्वप्रथम विजय-यात्रा भगवान् ऋषभदेव के नेतृत्व में प्रारम्भ हुई, इसलिए जैन इतिहासकारों ने भगवान् ऋषभदेव जी का दूसरा गुण-सम्पन्न नाम 'आदिनाथ' बताया है।

भगवान् ऋषभदेव पूर्ण युवा हो चुके थे और बड़ी योग्यता से जनता का नेतृत्व कर रहे थे। गृहस्थ-धर्म का पूर्ण आदर्श स्थापित करने के लिए अब विवाह का प्रसंग आया। बताया जा चुका है कि युगलियों के युग में मानव-जीवन की कोई विशेष मर्यादा न थी। वह युग, सभ्यता की दृष्टि से एक प्रकार से अविकसित युग कहा जा सकता है। उस समय विवाह-संस्कार की प्रथा भी प्रचलित न थी। भगवान् ऋषभदेव ने कर्म-भूमि युग के आदर्श के लिए और पारिवारिक जीवन को पूर्ण रूप से व्यवस्थित करने के लिए विवाह प्रथा को प्रचलित करना उचित समझा। अतएव श्री नाभिराजा और देवराज इन्द्र के परामर्श से ऋषभदेव का विवाह सुमंगला और सुनन्दा नाम की कन्याओं के साथ सम्पन्न हुआ। भारतवर्ष के उस युग में यह प्रथम विवाह था। ऋषभदेव के विवाह का आदर्श जनता में भी फैला और समस्त मानवजाति सुगठित परिवारों के रूप में फूलने-फलने लगी।

ऋषभदेव का परिवार

सुमंगला के परम प्रतापी पुत्र भरत हुए। ये बड़े ही प्रतिभाशाली सुयोग्य शासक थे। आगे चलकर इन्होंने अपने अप्रतिम शौर्य से भरतक्षेत्र के छह खण्डों पर अपनी विजय पताका फहराई और इस वर्तमान अवसर्पिणीकाल के प्रथम चक्रवर्ती राजा हुए। सुप्रसिद्ध वैदिक पुराण श्रीमद्भागवत के अनुसार इन्हीं भरत चक्रवर्ती के नाम पर हमारा देश भारतवर्ष के नाम से प्रख्यात हुआ।[1]

दूसरी रानी सुनंदा के पुत्र बाहुबली हुए। बाहुबली अपने युग के माने हुए शूरवीर योद्धा थे। इनका शारीरिक बल, उस समय अद्वितीय समझा जाता था। ये बड़े ही स्वतन्त्र प्रकृति के युवक थे। जब भरत चक्रवर्ती हुए, तो उन्होंने बाहुबली को भी अपने करदत्त राजा के रूप में अधीन रहने के लिये बाध्य किया, परन्तु भला वे कब मानने वाले थे। बाहुबली भरत को बड़े भाई के रूप में तो आदर दे सकते थे; परन्तु शासक के रूप में आदर देना उनकी स्वतन्त्र प्रकृति के लिए सर्वथा असम्भव था। अन्त में दोनों का परस्पर युद्ध हुआ। बाहुबली ने चक्रवर्ती को द्वन्द्व युद्ध में पछाड़ कर नीचा दिखा दिया, किन्तु उन्हें तत्काल ही वैराग्य हो आया और परिवार, राज्य, कोष तथा प्रभुत्व का परित्याग कर मुनि बन गए। इस घटना से बाहुबली जी की स्वतन्त्रता, निःस्पृहता, आत्म-गौरव, वीरता और धार्मिकता का भली-भाँति पता लग सकता है।

---

[1] येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्, येनेदं 'भारतवर्ष'-मिति व्यपदिशन्ति। —भागवत स्कन्ध ५, अध्याय ४

हाँ, तो हम भगवान् ऋषभदेव जी के परिवार की बात कह रहे हैं। भरत और बाहुबली के अलावा उनके अट्ठानवें पुत्र और भी थे। वे सब के सब बहुत सरल और सन्तोषी थे। भगवान् की दो सुपुत्रियाँ भी थीं—ब्राह्मी और सुन्दरी। ब्राह्मी सुमंगला की पुत्री थी तो सुन्दरी सुनन्दा की। दोनों ही बहनों का आपस में प्रेम, जैन इतिहास में बड़े गौरव की दृष्टि से अंकित किया गया है।

ब्राह्मी और सुन्दरी बहुत ही बुद्धिमती चतुर कन्याएँ थीं। भगवान् ऋषभदेव ने अपनी दोनों पुत्रियों को बहुत उच्च कोटि का शिक्षण दिया। ब्राह्मी ने लिपि अर्थात् अक्षर ज्ञान, व्याकरण, छन्द, न्याय, काव्य, अलंकार आदि में विशेष पाण्डित्य प्राप्त किया; और सुन्दरी ने गणित-विद्या में असाधारण चमत्कार दिखाया। भगवान् ने सर्वप्रथम पुत्रियों को शिक्षा दी थी, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वे स्त्री-शिक्षा को कितना आवश्यक और प्रधान समझते थे। पुत्र और पुत्रियों में आजकल का सा भेद, उन्हें सर्वथा अमान्य था। वे दोनों पर एक जैसा ही प्रेम रखते थे।

भगवान् ऋषभदेव केवल अक्षर-शिक्षण के ही पक्षपाती नहीं थे, वे मानवजीवन के उपयोग में आने वाली कलाओं के शिक्षण को भी बहुत अधिक महत्व देते थे। उनके विचारों में गृहस्थ जीवन के श्रेष्ठत्व की परिभाषा कला और उद्योग ही थे। अतएव उन्होंने स्त्रियों को चौंसठ कलाओं और पुरुषों को बहत्तर कलाओं का भिन्न-भिन्न रूप से शिक्षण दिया। भगवान् ऋषभदेव, इस प्रकार आदि युग के सर्व प्रथम शिक्षाशास्त्री थे, जिन्होंने स्त्री और पुरुष दोनों के लिए शिक्षा में कला और उद्योग का अद्भुत संमिश्रण किया।

वर्णव्यवस्था का सूत्रपात

ऋषभदेवजी ने, भारतीय प्रजा का संगठन सुव्यवस्थित रूप से चलता रहे, इस उद्देश्य से मानवजाति को तीन भागों में विभक्त किया– क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। जो लोग अधिक शूर वीर थे, शस्त्र चलाने में कुशल थे, संकटकाल में प्रजा की रक्षा कर सकते थे, अपराधियों को दंड द्वारा शिक्षा देकर कुशल शासक बन सकते थे, उन्हें क्षत्रिय पद दिया गया।

जो व्यापार व्यवसाय में, कृषि और पशु-पालन आदि में निपुण थे, वे वैश्य कहलाये। जिन्हें सेवा का कार्य सोंपा गया वे 'शूद्र' कहलाये।

चौथे ब्राह्मण वर्ण की स्थापना, भगवान के सुपुत्र महाराज भरत ने, अपने चक्रवर्ती काल में की। जो लोग अपना जीवन ज्ञानाभ्यास में लगाते थे, प्रजा को शिक्षा दे सकते थे, समय पर सन्मार्ग का उपदेश करते थे, वे ब्राह्मण कहलाये।

भगवान् ऋषभदेव जी ने वर्णों की स्थापना में कर्म की महत्ता को स्थान दिया था, जन्म या जाति को नहीं। आगे चल कर वर्णाश्रम-धर्म का महत्व बढ़ा तो कर्मणा वर्ण के स्थान में जन्मना वर्ण के सिद्धान्त को प्रतिष्ठा मिल गई। आज के ये जाति-गत ऊँच-नीच के भेद उसी जातीय अहंकार की देन हैं। यौगलिक सभ्यता में तो जातिवाद का नाम तक भी नहीं था। उस समय, मनुष्य, केवल मनुष्य था, उसके बीच में कोई भेद की दीवार नहीं थी।

आदि ऋषि

ऋषभदेव जी का हृदय आरम्भ से ही वैराग्य-रस से परिप्लावित था। परन्तु जन-कल्याण की भावना से वे गृहस्थ दशा में रह रहे थे और मानवसमाज को सुव्यवस्थित बनाने का

प्रयत्न कर रहे थे। अब ज्यों ही मानव जाति व्यवस्थित रूप से सभ्यता के ढाँचे में ढलकर उन्नति-पथ पर अग्रसर होने लगी, तो प्रजा के शासन का भार भरत और बाहुबलि आदि सुपुत्रों को दे कर स्वयं ने मुनि-दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा लेने के बाद वे एकान्त निर्जन सूने वनों में ध्यान लगाकर खड़े रहते। उन दिनों वे अखण्ड मौन रखते थे। किसी से कुछ भी बोलते-चालते न थे। और तो क्या, एक वर्ष तक तो तपःसाधना में इतने लीन रहे कि शरीररक्षा के हेतु अन्न-जल भी नहीं ग्रहण किया।

मत मतान्तरों का उद्भव

श्री ऋषभदेव जी के साथ चार हजार अन्य पुरुषों ने भी दीक्षा ली थी। इनमें भी अनेक लोग प्रतिष्ठित जननायक थे, और भगवान् से अत्यधिक घनिष्ठ प्रेम रखते थे। वे लोग किसी गम्भीर चिन्तन के बाद आत्म-निरीक्षण की दृष्टि से तो मुनि बने नहीं थे; भगवान् के प्रेम के कारण देखा-देखी ही उनके पीछे चल दिये थे। अतएव मुनि-दीक्षा में आध्यात्मिक आनन्द इन्हें न मिल सका। भूख-प्यास के कारण घबरा उठे। भगवान् मौन रहते थे, इसलिये इनको पता न चला कि क्या करें और क्या न करें? आखिर मुनि-वृत्ति का मार्ग छोड़कर ये सब लोग जंगल में कुटिया बनाकर रहने लगे और कन्द मूल वन-फल खाकर गुजारा करने लगे। भारतवर्ष में विभिन्न धर्मों व मतों का इतिहास, यहीं से प्रारम्भ होता है। भगवान् ऋषभदेव के समय में ही इस प्रकार तीन सौ तिरेसठ मत स्थापित हो चुके थे।

धर्म के मुख्यतया दो अङ्ग हैं—तत्व-ज्ञान और आचरण। जब मनुष्य की ज्ञान-शक्ति दुर्बल होती है तो तत्व ज्ञान में उलट-

फेर होता है और इसके फलस्वरूप चैतन्य, जड़, पाप, पुण्य, बन्ध और मोक्ष आदि के सम्बन्ध में एक दूसरे से टकराती हुई विभिन्न विचार-धाराएँ बह निकलती हैं। और जब आचरणशक्ति क्षीण होती है तो आचार-सम्बन्धी नियमों को भोग-बुद्धि से विपरीत रूप दिया जाता है, और झूठे तर्कों की आड़ में अपनी दुर्बलता का संरक्षण किया जाता है। धार्मिक मत-भेदों में प्रायः ये ही मुख्य कारण होते हैं। दुर्भाग्य से भगवान् ऋषभदेव के समय में भी मत-विभिन्नता के ये ही दो मुख्य कारण हुए।

वर्षीतप का पारणा

भगवान् ऋषभदेव ने बारह महिने तक निरन्तर निराहार रहकर संयम योग की साधना की। भयंकर से भयंकर प्राकृतिक संकटों को भी उन्होंने प्रसन्न चित्त से सहन किया। भगवान् की तितिक्षा बहुत उच्चकोटि पर पहुंच गई थी। परन्तु बारह मास व्यतीत होने पर भगवान् ने विचार किया कि "मैं तो इस प्रकार निराहार साधना का लम्बा मार्ग अपना कर आत्म कल्याण कर सकता हूं। मुझे तो भूख-प्यास के कष्ट किसी भाँति भी विचलित नहीं कर सकते। परन्तु मेरे अनुकरण पर चलने वाले दूसरे साधकों का क्या होगा? वे तो इस प्रकार लम्बा तपश्चरण नहीं कर सकते। बिना आहार यात्रा के साधारण मानव शरीर टिक भी नहीं सकता। बेचारे चार हजार साधक किस प्रकार पथ-भ्रष्ट हो गए? आने वाले साधकों को मार्ग-प्रदर्शन के हेतु मुझे भी आहार लेना चाहिये।" अस्तु, भगवान् ने आहार के लिए नगर में प्रवेश किया। उस समय की जनता साधुओं को आहार देने की विधि नहीं जानती थी। अतः भगवान् को मुनि-वृत्ति के अनुकूल निर्दोष आहार की प्राप्ति न हो सकी। सदोष आहार भगवान् ने नहीं लिया। बहुत से लोग तो भगवान् की सेवा में हाथी घोड़ों की भेंट लाते और बहुत से रत्नों के थाल

भी भरकर ले आते। अन्ततोगत्वा हस्तिनागपुर के राजकुमार श्रेयांस ने, अपने पूर्वजन्म-सम्बन्धी जातिस्मरण ज्ञान से जान कर, निर्दोष आहार के रूप में ईख का रस वहराया। यह संसार-त्यागी मुनियों को आहार देने का पहिला दिन था। वैशाख शुक्ला तृतीया--अक्षय तृतीया के रूप में वह दिन आज भी एक उत्सव के रूप में मनाया जाता है।

प्रथम धर्म प्रवर्तक

भगवान् ऋषभदेव नाना प्रकार से उग्रतपश्चरण करते हुए, आत्म-साधना में लीन रहे। जब वे आध्यात्मिक दशा की उच्च कोटि पर पहुंचे तो ज्ञानावरण आदि आत्मस्वरूप के घातक घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया। भगवान् को केवलज्ञान एक वट-वृक्ष के नीचे हुआ था, अतः आज भी भारत में वट-वृक्ष को वहुत आदर की दृष्टि से देखा जाता है। भगवान् ने केवल ज्ञान प्राप्त कर धर्म का उपदेश दिया और साधु तथा गृहस्थ दोनों ही का कर्तव्य वताया। यह कर्तव्य ही जैन धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'जिन' का वताया हुआ धर्म=कर्तव्य, जैन धर्म।

भगवान् ऋषभदेव ने स्त्री और पुरुष दोनों के जीवन को महत्व देते हुए चतुर्विध संघ की स्थापना की—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। भगवान् के प्रथम गणधर चक्रवर्ती भरत के सुपुत्र ऋषभसेन हुए, और सवसे प्रमुख आर्यिकाएँ दोनों पुत्रियाँ ब्राह्मी तथा सुन्दरी हुईं।

भगवान् का जन्म चैत्र कृष्णा अष्टमी को हुआ था।[1] और मुनि-दीक्षा भी चैत्र कृष्णा अष्टमी को ही हुई। केवलज्ञान, फाल्गुनकृष्णा एकादशी को, और निर्वाण, माघ कृष्णा

---

१ जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र में दीक्षा तिथि चैत्र कृष्णा नवमी है।

त्रयोदशी को हुआ। आज भी चैत्रकृष्णा अष्टमी के दिन भगवान् ऋषभदेव की जयन्ती मनायी जाती है।

भगवान् ऋषभदेव मानव-जाति के सर्व-प्रथम उद्धारकर्त्ता थे। भारतीय इतिहास में उनका नाम अजर-अमर रहेगा। भगवान् ऋषभदेव केवल जैन धर्म की ही विभूति न थे, प्रत्युत विश्व की विभूति थे। यह उनकी महत्ता का ही तो फल है कि वैदिक धर्म ने भी उन्हें अपना अवतार माना है। श्री मद्भागवत में भगवान् ऋषभदेव की महिमा मुक्तकण्ठ से वर्णन की गई है। वहाँ लिखा है कि भगवान् ऋषभदेव वेदों के भी परम गुरु थे, "सकल वेद-लोक-देव-ब्राह्मण-गवां परमगुरो भगवतः ऋषभाख्यस्य" (भागवत स्कंध ५ अ० ६) इससे आगे भगवान् के अवतार की महत्ता और उपयोगिता बताते हुए लिखा है कि "अयमवतारो रजसोपप्लुत कैवल्योपशिक्षणार्थः" भगवान का यह अवतार रजो गुण से व्याप्त लोगों को मोक्ष मार्ग की शिक्षा देने के लिये हुआ था। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव की महिमा के स्वर जैन परम्परा एवं वैदिक परम्परा में एक समान श्रद्धा के साथ मुखरित हुए हैं।

* * *

६

भगवान् नेमिनाथ करुणा के अवतार माने जाते हैं। राजकुमारी राजुल को व्याहने को जाते हुए एक करुणा की लहर उनके हृदय में मचल उठी, और उससे प्रेरित होकर वे तोरण से ही वापस लौट गए। जीव दया के निमित्त जिसने अपने यौवन की समस्त इच्छा और उमंगों का बलिदान कर दिया, उस करुणामूर्ति का यह जीवनवृत्त पढ़िए।

भगवान् नेमिनाथ

बात उस पुरातन युग की है, जब कि भारत के क्षितिज पर यादव जाति का सितारा चमक रहा था। यह यादव जाति की ही राष्ट्रीय क्रान्ति थी कि कला, उद्योग और व्यवसाय की उन्नति से राष्ट्र में चारों ओर खुशहाली फैल रही थी, और जन-जीवन में सुख, शान्ति एवं समृद्धि की वीणा के हजारों तार एक साथ झंकृत हो रहे थे।

भारत के तत्कालीन इतिहास पर दृष्टि डालते हैं, तो इसी महान् यादव जाति के दो महापुरुष एक साथ भारत के क्षितिज पर चमकते दिखाई देते हैं। एक हैं अध्यात्म के क्षितिज पर जगमगाते सूर्य, करुणा के पुंज भगवान् नेमिनाथ और दूसरे हैं राजनीति के आकाश में प्रकाशमान महान् ज्योतिर्धर वासुदेव श्रीकृष्ण।

हम आपको यहाँ भगवान् नेमिनाथ का परिचय देना चाहते हैं। भगवान् नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) जैन धर्म के बाईसवें तीर्थ-

ङ्कर हैं। उनका जन्म शौरिपुर (वर्तमान आगरा जिला में यमुना तट पर आज के वटेश्वर के पास) के राजा समुद्रविजय के घर हुआ। माता का नाम था शिवा देवी।

अरिष्टनेमि के जन्म से पहले समुद्रविजय के सबसे छोटे भाई वसुदेव के घर श्रीकृष्ण का जन्म हो चुका था।

दूल्हा बनकर चले

तत्कालीन भारत का क्रूर शासक मगधनरेश जरासन्ध यादव जाति के पराक्रम और वैभव से जलकर उस पर तरह-तरह के अत्याचार ढा रहा था। श्रीकृष्ण ने इस बला से अपनी जाति को बचाने के लिए वहाँ से प्रस्थान करके पश्चिम समुद्र के किनारे सौराष्ट्र प्रदेश में द्वारका नगरी बसाई और वहीं पर समस्त यादव जाति वासुदेव श्रीकृष्ण के नेतृत्व में अपनी उन्नति करने लगी।

अरिष्टनेमि जब युवा हुए तो उनका पराक्रम और तेजस् पूरी यादव जाति में अद्भुत दिखाई देने लगा। श्रीकृष्ण अरिष्टनेमि का बहुत सम्मान करते थे। अरिष्टनेमि का स्वभाव बड़ा ही शान्त, मधुर और कोमल था। उनके मन में वैराग्य के संस्कार जमे हुए थे, इसलिए वे संसार से उदासीन एवं विरक्त से रहते। श्रीकृष्ण ने बहुत ही आग्रह करके अरिष्टनेमि को विवाह के लिए तैयार किया। उनका सम्बन्ध उग्रसेन की पुत्री राजीमती से निश्चित हुआ।

राजीमती बहुत ही सुन्दर और चतुर राजकुमारी थी। उसके स्नेहिल और हंसमुख स्वभाव पर हर कोई मुग्ध हो उठते। परिवार में उसे प्यार से 'राजुल' नाम से भी पुकारा जाता था।

अरिष्टनेमि की वारात राजीमती को व्याहने के लिए राजा उग्रसेन के द्वार पर जा रही थी। राजकुमार रथ में बैठे थे। एक ओर भारत के सम्राट श्रीकृष्ण, अनेकों तेजस्वी नरेश एवं यादव-राजकुमारों का दल वल था, तो दूसरी ओर उनके स्वागत के लिए भोज वंशी राजा उग्रसेन अपने मित्र राजा एवं सामन्तों, पारिवारिक जनों के साथ उपस्थित थे। चारों ओर मंगल गीत गाये जा रहे थे, मधुर संगीत की लहरें दूर-दूर तक पवन पर तैरती जा रही थी, स्थान-स्थान पर वंदनवारें टंगी हुई थी, सौभाग्यवती नारियाँ अरिष्टनेमि पर सुगन्धित फूल वर्षा रही थीं।

करुणा उमड़ पड़ी

"यह क्या ? इस उत्सव के समय में यह करुण-क्रन्दन क्यों ! खुशी के समय में यह आर्त स्वर कैसा ?"—अरिष्टनेमि ने चौंककर इधर-उधर देखा।

राजकुमार का रथ थोड़ा और आगे वढ़ा तो एक भयंकर दृश्य उनकी नजरों में कौंध गया। सैकड़ों निरीह मूक पशु छट-पटा रहे हैं, एक वाड़े में बंधे आर्तक्रन्दन कर रहे हैं। मौत जैसे उनके सामने ही खड़ी है और वे सव भयाकुल हैं।

अरिष्टनेमि ने सारथि से रथ रोकने को कहा, और पूछा—"ये मूक पशु यहाँ किस लिए वाँधे गये हैं ? ये क्यों छटपटा कर क्रन्दन कर रहे हैं ?"

सारथि ने स्पष्ट निवेदन किया—"राजकुमार ! यह सव आपके विवाहोत्सव के लिए है ! वरातियों में वहुत से राजा मांसाहारी भी हैं, उनके स्वागत में इन पशुओं का वध किया जायेगा।"

नेमिकुमार के हृदय में भयंकर चोट लगी। "मेरे विवाह में यह नृशंस हत्या ! मेरा एक घर वसाने के लिए हजारों पशुओं की मृत्यु ! नहीं ! नहीं ! यह नहीं हो सकता।" नेमिकुमार के हृदय में करुणा का स्रोत उमड़ पड़ा। उन्होंने करुणाविगलित हृदय से कहा—"सारथि ! रथ को मोड़ लो ! यह विवाह नहीं होगा। जाओ, पशुओं को तत्काल वन्धनमुक्त कर दो।" सारथि ने आज्ञानुसार वाड़ा खोल दिया, सव पशु वन्धनमुक्त कर दिए गए।

नेमिकुमार का रथ तोरण से वापस लौट गया। चारों ओर चिन्ता छा गई। श्रीकृष्ण आदि ने नेमिकुमार को वहुत समझाया, पर उन्होंने सवके प्रस्ताव अस्वीकार कर दिये। उनके हृदय की करुणा दीप्त हो उठी। वे लौटकर राजमहलों में नहीं रहे, सीधे रैवताचल गिरनार पर्वत की गहन कन्दराओं में जाकर आत्म-साधना में लीन हो गये।

उन्होंने तपस्या करके आत्मशोधन किया। कर्म-मलों का नाश किया और केवलज्ञान प्राप्त करके वाईसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ के नाम से संसार में प्रसिद्ध हुए।

अहिंसा के उपदेष्टा

करुणामूर्ति भगवान् नेमिनाथ ने अहिंसा और करुणा पर वहुत अधिक वल दिया। खासकर भोजनशुद्धि के साथ अहिंसा का सम्वन्ध जोड़ने वाले यही इतिहास पुरुष हैं। वासुदेव श्रीकृष्ण और यादव जाति को उन्होंने विशेष रूप से अहिंसा के उपदेश द्वारा प्रभावित किया। छांदोग्य उपनिषद में लिखा है कि 'देवकीपुत्र श्रीकृष्ण को घोर आंगिरस ऋषि ने अहिंसा धर्म का उपदेश दिया था।' वौद्ध दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् स्व० धर्मानन्द कोशाम्वी (भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृ० ३८) के मतानुसार

वे अहिंसा धर्म के उपदेशक जैन तीर्थङ्कर भगवान नेमिनाथ ही थे, जो वैदिक परम्परा में 'घोर आंगिरस' के नाम से प्रसिद्ध रहे हैं।

जैन साहित्य के आधार से भी इतना तो निश्चित है कि भगवान् नेमिनाथ यादव जाति एवं श्रीकृष्ण के उपदेशक थे। उन्होंने समय-समय पर वासुदेव श्रीकृष्ण जैसे सम्राटों और सर्व-साधारण जनता को अहिंसा का उपदेश देकर भारतवर्ष में दया और करुणा का प्रचार किया। इतिहास की नवीन खोज अब भगवान् नेमिनाथ को ऐतिहासिक महापुरुष मान चुकी है।

७

ईस्वी पूर्व आठ सौ वर्ष ! भारत के आध्यात्मिक जीवन में विवेकशून्य क्रियाकाण्डों और धार्मिक अन्धविश्वासों का बोलबाला !
अन्धविश्वासों की इन कालीघटाओं को चीरकर सहसा एक बाल-रवि भारत के अध्यात्म-क्षितिज पर चमक उठता है, चारों ओर सम्यग् ज्ञान का प्रकाश जगमगाने लगता है। इस धर्म-क्रान्ति का सजीव चि "भगवान् पार्श्वनाथ" के जीवन में देखिए।

भगवान् पार्श्वनाथ

भगवान् पार्श्वनाथ वर्तमान काल-चक्र के तेईसवें तीर्थङ्कर हैं। उनकी प्रख्याति भी जैन समाज में कुछ कम नहीं है। जैन साहित्य का स्तोत्र-विभाग अधिकतर उन्हीं के स्तुति पाठों से भरा पड़ा है। हजारों स्तोत्र उनके नाम पर बने हुए हैं। जिन्हें लाखों नर-नारी बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ नित्यपाठ के रूप में पढ़ते हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की महान् कृति कल्याण-मन्दिर स्तोत्र तो इतना अधिक प्रसिद्ध है कि शायद ही कोई धार्मिक मनोवृत्ति का शिक्षित जैन हो, जो उसे न जानता हो।

मूल आगमों में भी भगवान् पार्श्वनाथ की कीर्ति-गाथा बड़े श्रद्धा भरे शब्दों में गाई गई है। भगवती-सूत्र में बहुत से स्थलों पर उनका नामोल्लेख मिलता है। और स्वयं भगवान् महावीर

ने भी उन्हें महापुरुषों की कोटि में स्वीकार करते हुए अतीव सम्मानपूर्ण शब्दों में स्मरण किया है।

जैन-संसार ही नहीं, अजैन-संसार भी पार्श्वनाथ के नाम से खूब परिचित है। एक प्रकार से अजैन संसार तो एक मात्र उन्हें ही जैनों का उपास्य देव समझता है। बहुत से अजैनों को स्वयं लेखक ने यह कहते हुए सुना है कि—ये जैन है, जो पार्श्वनाथ को मानने वाले हैं। राजपूताना आदि प्रदेशों में तो अजैन लोग जैनों को शपथ दिलाते समय भी भगवान् पार्श्वनाथ की शपथ दिलाते हैं। भारतीय इतिहास के माने हुए विद्वान् भी श्री पार्श्वनाथ जी के ऐतिहासिकत्व को स्पष्ट रूप में स्वीकार करते हैं। पहिले के कुछ इतिहासज्ञ विद्वान् जैन-धर्म का प्रारम्भकाल भगवान् महावीर से ही मानते थे, परन्तु अब तो एक स्वर से प्रायः सभी विद्वान्, जैन धर्म का सम्बन्ध भगवान् पार्श्वनाथ से जोड़ने लग गए हैं, कुछ तो इनसे भी आगे ऋषभदेव जी तक पहुंच गए हैं। प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुस्तक 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' में तो भगवान् पार्श्वनाथ के इतिहास काल पर खूब अच्छा प्रकाश डाला गया है।

तत्कालीन परिस्थिति

भगवान् पार्श्वनाथ का समय ईसा के करीब ८०० वर्ष पूर्व है। सुप्रसिद्धकाशीराष्ट्र की राजधानी वाराणसी में भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म हुआ। काशी नरेश अश्वसेन पार्श्वनाथ के पिता और वामा देवी माता थी। वह युग तापसों का युग था। हजारों तापस आश्रम बनाकर वनों में रहा करते थे, और उग्र शारीरिक क्लेशों द्वारा साधना किया करते थे। कितने ही तपस्वी वृक्षों की शाखाओं में औंधे मुँह लटका करते थे। कितने ही आकंठ जल में खड़े होकर सूर्य की ओर ध्यान लगाया करते थे। कितने

ही अपने आपको भूमि में दवाकर समाधि लगाते थे। और कितने ही पंचाग्नितप तप कर अपने शरीर को झुलसा डालते थे। उक्त अग्नि-तापसों का उस समय काफी जोर था। भोली जनता इन्हीं विवेक-शून्य क्रिया-काण्डों में धर्म मानती थी, और इस प्रकार देह-दण्ड का बाजार खूब गर्म था।

विचार-क्रान्ति

भगवान् पार्श्वनाथ का वैचारिक संघर्ष अधिकतर इन्हीं तापस सम्प्रदायों के साथ हुआ। वे विवेक-शून्य क्रियाकाण्ड को हेय मानते थे और कहते थे कि "ज्ञानपूर्वक किया गया सम्यक् आचार ही जीवन में क्रान्ति ला सकता है। ज्ञान के बिना उग्र क्रियाकाण्ड करते हुए हजारों वर्ष बीत जाएँ, तब भी कुछ नहीं हो सकता। बहुत बार तो विवेक-शून्य तपश्चरण आत्मा को उन्नत बनाने की अपेक्षा अधःपतन की ओर घसीट कर ले जाता है और साधक को किसी काम का नहीं छोड़ता।"

कमठ, उस समय का एक महान् प्रतिष्ठा-प्राप्त तापस था। सर्वप्रथम पार्श्वनाथ की उसी से विचारचर्चा हुई। कमठ ने वाराणसी के बाहर गंगा-तट पर डेरा डाल रखा था, और पंचाग्नि तप के द्वारा हजारों लोगों का श्रद्धा-भाजन बना हुआ था। श्री पार्श्वनाथ इस समय वाराणसी के युवराज थे। युवराज पार्श्वकुमार ने इस मिथ्याचार के विषवृक्ष को जड़ से उखाड़ फेंकने का विचार किया, और गंगा तट पर तपस्वी से धर्म के सम्बन्ध में बड़ी गम्भीर चर्चा करते हुए सत्य का वास्तविक स्वरूप जनता के समक्ष रक्खा। तपस्वी की धूनी के एक बड़े लक्कड़ में एक विशाल विषधर नाग जल रहा था। राजकुमार पार्श्व ने अपनी सुमधुर वाणी से सद्बोध देकर नाग का उद्धार किया। उक्त घटना का जैन समाज में बड़ा भारी महत्व है।

हेमचन्द्राचार्य, भावदेव आदि प्राचीन विद्वानों ने स्वरचित
र्श्वचरित्रों में इस सम्बन्ध में अतीव हृदय-ग्राही एवं
वेचनापूर्ण वर्णन किया है। वर्तमान काल-चक्र में जितने भी
र्थङ्कर हुए हैं, उन सब में श्री पार्श्वनाथ ही ऐसे हैं, जिन्होंने
;स्थ दशा में भी इस प्रकार सार्वजनिक धर्म-चर्चा में भाग लेकर
;य के प्रचार का श्रीगणेश किया।

क्षमा का देवता

भगवान् पार्श्वनाथ का साधनाकाल बड़ा विलक्षण रहा
। युवावस्था में ही काशी देश के विशाल साम्राज्य को ठुकरा
र मुनि-दीक्षा धारण की, और इतनी सफल तपःसाधना की,
ासे हर कोई सहृदय जन सहसा चमत्कृत हुए विना नहीं
; सकता। उनका हृदय सहन-शीलता से इतना अधिक परि-
र्ण था कि वे भयंकर से भयंकर आपत्तियों में भी सर्वथा अचल
कम्प रहे, जरा भी हृदय में ग्लानि का भाव नहीं आने दिया।
मठासुर ने उनको अतीव भीषण कष्ट दिये, परन्तु वे उस पर
ो अन्तर्हृदय से दया का शीतल निर्झर ही वहाते रहे। प्रभु
इस उदार समभाव पर आचार्य हेमचन्द्र ने त्रिषष्टि शलाका
रुष चरित्र के प्रारम्भ में क्या ही अच्छा लिखा है—

> कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचितं कर्म कुर्वति।
> प्रभुस्तुल्यमनोवृत्तिः पार्श्वनाथः श्रियेऽस्तु वः ॥

अर्थात् एक ओर कमठासुर ने आपको महान् कष्ट दिए,
ौर दूसरी ओर नागराज धरणेन्द्र ने आपको उपसर्ग से वचा
र महती सेवा-भक्ति की, परन्तु आपका दोनों ही व्यक्तियों पर
;क समान ही सद्भाव था, न कमठ पर द्वेष और न धरणेन्द्र
ार अनुराग।

चातुर्याम धर्म का उपदेश

श्री पार्श्व प्रभु आरम्भ से ही दया, क्षमा एवं शान्ति के अवतार थे। उनकी यह क्षमा धर्म की साधना इसी जन्म से शुरु न हुई थी। जैन पुराणों के अनुसार वे नौ जन्म से क्षमा का पाठ अपने अन्तस्तल में उतारते आ रहे थे। अपने विरोधी कमठ पर, जो निरन्तर नौ जन्म तक साथ में रहकर कष्ट देता रहा था, जरा भी क्रोध नहीं किया। अस्तु उनकी यह साधना अन्तिम जन्म में पूर्ण शिखर पर पहुंची और यहाँ कैवल्य प्राप्त कर अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रहरूप चातुर्याम धर्म के साधना-मार्ग का जनता में सर्वत्र प्रचार किया। विवेक-शून्य क्रियाकांडों में उलझी हुई जनता को उन्होंने विवेक-प्रधान सदाचार के पथ पर अग्रसर किया, और संसार में अहिंसा की दुन्दुभि फिर से बजाई। श्री पार्श्वनाथ ने क्या किया ? इस सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् श्री धर्मानन्द कौशाम्बी का लेख उद्धृत किए देता हूँ।

श्री कौशाम्बी जी अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'भारतीय संस्कृति और अहिंसा' में लिखते हैं :—

"परीक्षित के बाद जनमेजय हुए और उन्होंने कुरु देश में महायज्ञ करके वैदिक धर्म का झण्डा लहराया। उसी समय काशी देश में पार्श्व एक नवीन संस्कृति की आधार शिला रख रहे थे।"

"श्री पार्श्वनाथ का धर्म सर्वथा व्यवहार्य था। हिंसा, असत्य, स्तेय और परिग्रह का त्याग करना, यह चातुर्याम संवरवाद उनका धर्म था। इसका उन्होंने भारत में प्रचुर प्रचार किया। इतने प्राचीन काल में अहिंसा को इतना सुव्यवस्थित रूप देने का, यह प्रथम ऐतिहासिक उदाहरण है।"

...... "श्री पार्श्व मुनि ने सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह—इन तीन नियमों के साथ अहिंसा का मेल विठाया। पहले अरण्य में रहने वाले ऋषि-मुनियों के आचरण में जो अहिंसा थी, उसे व्यवहार में स्थान न था। अस्तु, उक्त तीन नियमों के सहयोग से अहिंसा सामाजिक बनी, व्यावहारिक बनी।"

......."श्री पार्श्व मुनि ने अपने नये धर्म के प्रसार के लिए संघ बनाया। बौद्ध-साहित्य पर से ऐसा मालूम होता है कि बुद्ध के काल में जो संघ अस्तित्व में थे, उनमें जैन साधु तथा साध्वियों का संघ सबसे बड़ा था।"

भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन एवं इतिहास के सम्बन्ध में वर्तमान में और भी अनेक तथ्य प्रकाश में आये हैं। जिनसे यह सिद्ध हो चुका है कि श्री पार्श्वनाथ जैन धर्म के एक ऐतिहासिक एवं क्रान्तिकारी महापुरुष हो गये हैं।

८

प्रभु ऋषभदेव का समाज-विधायक स्वरूप, तीर्थंकर नेमिनाथ की करुणा और भगवान् पार्श्वनाथ की धर्म-क्रान्ति—तीनों का विराट्स्वरूप भगवान् महावीर के व्यक्तित्व में प्रकट होता है।
पच्चीस सौ वर्ष पूर्व के भारत में चलकर उस विराट् व्यक्तित्व का दर्शन करिए।

भगवान् महावीर

युग-दर्शन

आइए, जरा अपनी स्मृति को पुराने भारत में ले चलें।

कितने पुराने भारत में ?

यही करीब पच्चीस शताब्दी पुराने में।

................हा हन्त ! यह सब क्या हो रहा है ? लाखों मूक पशुओं की लाशें यज्ञ की बलि-वेदी पर तड़प रही हैं। भोले-भाले मानव-शिशु और पकी आयु के वृद्ध भी देव-पूजा के वहम में मौत के घाट उतारे जा रहे हैं। शूद्र भी तो मनुष्य हैं। इन्हें क्यों मनुष्यता के सर्व सामान्य अधिकारों से भी वंचित कर दिया गया है ? मातृ-जाति का इतना भयंकर अपमान ! सामाजिक-क्षेत्र में रात-दिन की दासता के सिवा इनके लिए और कोई काम ही नहीं ? प्रत्येक नदी-नाला, प्रत्येक ईंट-पत्थर, प्रत्येक झाड़-झंखाड़ देवता बना हुआ है। और मूर्ख मानव-समाज अपने महान् व्यक्तित्व को भुलाकर इनके आगे दीन-भाव से

अपना उन्नत मस्तक रगड़ता फिर रहा है। आध्यात्मिक और सांस्कृतिक पतन का इतना भयंकर दृश्य ! हृदय काँप रहा है।

जी हाँ, यह ऐसा ही दृश्य है। आप देख नहीं रहे हैं, यह आज से पच्चीस शताब्दी पुराना भारत है और ये सब लोग उस पुराने भारत के निवासी हैं। आज भी इनके तत्कालीन जीवन की झाँकी वेदों और पुराणों के पृष्ठों पर अंकित है।

क्या इस युग में भारत का कोई उद्धार-कर्ता न हुआ ? क्या उस समय इन विचारमूढ़ लोगों को समझाने-बुझाने वाला कोई उपदेशक न मिला ? अन्ध-विश्वास की इस प्रगाढ़ अन्धकारपूर्ण काल-रात्रि में ज्ञान-सूर्य का उज्ज्वल आलोक फैलाने वाला क्या कोई महापुरुष अवतरित न हुआ ?

अवश्य हुआ।

कौन ?

भगवान् महावीर।

यह प्रकृति का अटल नियम है कि जब अत्याचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है, अधर्म धर्म का मोहक बाना पहनकर जनता को भ्रम-बन्धन में बाँध लेता है, तब कोई-न-कोई महापुरुष समाज, राष्ट्र एवं विश्व का उद्धार करने के लिए जन्म लेता ही है। भारतवर्ष की तत्कालीन दयनीय दशा भी किसी महापुरुष के अवतरण की प्रतीक्षा कर रही थी। अतः भगवान् महावीर ने भारत के उद्धार के लिए तत्कालीन विदेह और आज के विहार प्रदेशवर्ती-वैशाली महानगरी के उपनगर क्षत्रियकुण्ड में, ज्ञातक्षत्रिय राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला के यहाँ जन्म ग्रहण किया। भारत के इतिहास में चैत्रशुक्ला त्रयोदशी का वह पवित्र दिन है, जो चिरकाल तक जनमानस में अविस्मरणीय बना रहेगा। भगवान्

महावीर के जन्म दिन बनने का सौभाग्य इसी पवित्र दिन को प्राप्त हुआ है।

साधना पथ पर!

महावीर राजकुमार थे। सब प्रकार का सांसारिक सुख-वैभव चारों ओर बिखरा पड़ा था। विवाह हो चुका था। अपने समय की अनुपम सुन्दरी राजकुमारी यशोदा धर्म-पत्नी के रूप में प्रेम-पुजारिणी बनी हुई थी। दुःख क्या होता है? कुछ भी पता न था। यह सब कुछ था। परन्तु महावीर का हृदय फिर भी कुछ अनमना-सा, उदास-सा रहता था। भारत का धार्मिक तथा सामाजिक पतन उन्हें बेचैन किए हुए था। क्रान्ति की प्रचण्ड ज्वाला अन्दर ही अन्दर धधक रही थी। हृदय-मन्थन चलता रहा। दो वर्ष तक गृहस्थ-जीवन में ही तपस्वियों-जैसी उग्र साधना चलती रही। अन्त-तोगत्वा तीस वर्ष की भरी जवानी में मार्गशिर (मंगसिर) कृष्णा दसमी के दिन विदेह की विशाल राज्य-लक्ष्मी को ठुकरा कर वे पूर्ण अकिंचन भिक्षु बनकर निर्जन वनों की ओर चल पड़े।

प्रश्न हो सकता है कि भगवान् महावीर ने भिक्षु होते ही उपदेश की अमृतवर्षा क्यों न की? बात यह है कि महावीर आजकल के साधारण सुधारकों—जैसी मनोवृत्ति न रखते थे कि जो कुछ मन में आए, झट-पट कह डाला, करने धरने को कुछ नहीं। उनकी तो यह अटल धारणा थी-"जब तक नेता अपने जीवन को न सुधार ले, अपनी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त न करले, तब तक वह प्रचार क्षेत्र में कभी भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।" महावीर इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बारह वर्ष तक कठोर तपः साधना करते रहे।

मानव समाज से प्रायः अलग-थलग सूने जंगलों में, पर्वतों की गहन गुफाओं में रहकर आत्मा की प्रसुप्त अनन्त आध्यात्मिक शक्तियों को जगाना ही उन दिनों उनका एकमात्र कार्य था। एक-से-एक मनोमोहक प्रलोभन आँखों के सामने से गुजरे, एक-से-एक भयंकर आपत्तियों ने चारों ओर चक्कर काटा, परन्तु महावीर हिमालय की भाँति सर्वथा अचल और अडिग रहे। आज जिन घटनाओं के पठन-मात्र से हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं, वे प्रत्यक्ष रूप में जिस जीवन पर गुजरी होंगी, वह कितना महान् होगा ?

अहिंसा और सत्य की पूर्ण साधना के बल से जीवन की समस्त कालिमा धुल चुकी थी, पवित्रता और स्वच्छता की निर्मल रेखाएँ प्रस्फुटित हो चुकी थीं, आत्मा की अनन्त ज्ञान ज्योति जगमगा उठी थी, अतः वैशाख शुक्ला दशमी के दिन ऋजुवालुका नदी के तट पर शाल वृक्ष के नीचे ध्यान मुद्रा में भगवान महावीर ने केवल ज्ञान और केवल-दर्शन का अखण्ड प्रकाश प्राप्त किया। अब वे तीर्थङ्कर की भूमिका पर पहुँच गए।

जैन धर्म की मान्यता के अनुसार कोई भी मनुष्य जन्म से भगवान नहीं होता। भगवत्पद की प्राप्ति के लिए साधना के विकट पथ पर चलना होता है, जीवन को निष्काम एवं निष्पाप बनाना होता है। सेवा, सद्भाव और संयम की उच्चतम साधना करनी होती है। तब कहीं मनुष्य भगवत्पद का अधिकारी होता है। भगवान् महावीर का जीवन हमारे समक्ष आध्यात्मिक विकासक्रम का एक उज्ज्वल आदर्श उपस्थित करता है।

धर्म क्रान्ति

भगवान् महावीर को ज्योंही केवल-ज्योति के दर्शन हुए, वे अपने एकान्त साधनारत जीवन को वन से हटाकर मानव

समाज में ले आए। उन्होंने दलित मानवता के विकास और अभ्युदय के लिए प्रवल आन्दोलन चालू किया। तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक भ्रान्त रूढ़ियों के प्रति वह महान् सफल अभियान किया कि अन्धविश्वासों के सुदृढ़ दुर्ग ढह-ढह कर भूमिसात् होने लगे, भारत में चारों ओर क्रान्ति की वेगवती धारा वह निकली। दम्भ और आडंवर पर टिके हुए धर्म-गुरुओं के स्वर्ण-सिंहासन हिल उठे। उनका विरोध भी वड़े जोरों से हुआ। प्राचीनता के पुजारियों ने प्रचलित परम्पराओं की रक्षा के लिये जी-तोड़ प्रयत्न किये, मनमाने आक्षेप भी किये, परन्तु महापुरुष आपत्तियों की शैल शृङ्खलाओं से क्या कभी रुका करते हैं ? वे तो अपने निश्चित ध्येय पर प्रति-पल आगे वढ़ते ही रहते हैं, और अन्त में सफलता के सिंह-द्वार पर पहुँच कर ही विश्राम लेते हैं।

धर्म-संघ

भगवान् महावीर के अहिंसा प्रधान सदाचार मूलक धर्मोपदेश ने भारत की काया-पलट करदी। हिंसक विधि-विधानों में लगे हुए वड़े-वड़े दिग्गज विद्वान् भी भगवान् के चरणों के पुजारी वन गए। इन्द्रभूति गौतम, जो अपने समय के एक धुरन्धर दार्शनिक, साथ-ही-साथ क्रियाकाण्डी ब्राह्मण माने जाते थे, पावापुर में विशाल यज्ञ का आयोजन कर रहे थे। भगवान् महावीर की पहली तत्त्वचर्चा इन्हीं के साथ हुई। गौतम पर उनके दिव्य ज्ञान-प्रकाश एवं अखण्ड तपस्तेज का वह विलक्षण प्रभाव पड़ा कि वे सदा के लिए यज्ञ-वाद का पक्ष त्याग कर भगवत्पद-कमलों में दीक्षित हो गये। इनके साथ ही चार हजार चार सौ (४४००) अन्य ब्राह्मण विद्वानों ने भी भगवान् के पास मुनि-दीक्षा धारण की। भगवान् के अहिंसा-धर्म की यह सवसे पहली विजय थी, जिसने भारत की चिर-निद्रित

आँखें खोल दीं। उक्त घटना के वाद भगवान् महावीर जहाँ भी पधारे, धर्म-पिपासु जनता समुद्र की भाँति उनकी ओर उमड़ती चली गई।

भोग-विलास में सर्वथा और सतत वेभान रहने वाले धनी नौजवानों पर भी प्रभु के अपूर्व वैराग्य का वड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। वड़े-वड़े राजा-महाराजाओं के, सेठ-साहूकारों के सुकुमार पुत्र भी भगवान् महावीर के चरणों में दीक्षित होकर तप, तितिक्षा, त्याग और सदाचार का संदेश लिए गाँव-गाँव में घूमने लगे। मगध-सम्राट श्रेणिक की उन महारानियों को, जो कभी पुष्प शय्या से नीचे पैर तक न रखती थीं, जव हम भिक्षुणियों के रूप में साधारण घरों से भिक्षा माँगते हुए और जनता को धर्म-शिक्षा देते हुए, कल्पना के चित्र-पट पर लाते हैं, तो हमारा हृदय सहसा हर्ष से गद्-गद् हो उठता है। राजगृह के धन्ना और शालिभद्र जैसे धन-कुवेरों के जीवन-परिवर्तन की कथाएँ कट्टर-से-कट्टर भोगवादी के हृदय को भी परिवर्तित कर देने वाली हैं।

नारी जाति के उद्धारक

भगवान् महावीर मातृ-जाति के प्रति भी वड़े उदार विचार रखते थे। उनका कहना था कि 'पुरुष के समान ही स्त्री को भी प्रत्येक धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में वरावर का अधिकार है। स्त्री जाति को हीन एवं पतित समझना निरी भ्रान्ति है।' अतएव भगवान् ने भिक्षु-संघ के समान ही भिक्षुणियों का भी एक संघ वनाया, जिसकी अधिनेत्री 'चन्दन वाला' थी, जो अपने संघ की सव प्रकार की देख-रेख स्वतन्त्र रूप से किया करती थी। भगवान् बुद्ध ने भी भिक्षुणी-संघ की स्थापना की थी, परन्तु वह स्वयं नहीं, आनन्द के अत्या-

ग्रह से गौतमी पर दया लाकर! उनका अपना विचार इस सम्वन्ध में कुछ और ही था।

भगवान् महावीर के संघ में जहाँ भिक्षुओं की संख्या १४ हजार थी, वहाँ भिक्षुणियों की संख्या ३६ हजार थी। श्रावकों की संख्या १ लाख ५६ हजार थी, तो श्राविकाओं की संख्या ३ लाख १८ हजार थी। स्त्री-जाति के लिए भगवान् के धर्म-प्रवचन में कितना महान् आकर्षण था, इसकी एक निर्णयात्मक कल्पना ऊपर की संख्याओं पर से की जा सकती है।

जाति बनाम कर्म

तत्कालीन शूद्र जातियों को भी भगवान् महावीर के द्वारा उत्थान का महान् अवसर प्राप्त हुआ। वे जहाँ भी गए, सर्वत्र सर्वप्रथम एक ही सन्देश लेकर गए कि—'मनुष्य जाति एक है, उसमें जात-पाँत की दृष्टि से विभाग की कल्पना करना किसी भी प्रकार उचित नहीं।' ऊँच-नीच के सम्वन्ध में उनके विचार कर्म-मूलक थे, जाति-मूलक नहीं। उनका उपदेश था कि मनुष्य जाति से नहीं, कर्म से ही ऊँच-नीच होता है। यह वात नहीं थी कि, वे आजकल के उपदेशकों के समान मात्र उपदेश देकर ही रह गये हों। हरिकेशवल जैसे चाण्डालों को भी अपने भिक्षु-संघमें सम्मानपूर्ण अधिकार देकर, उन्होंने जो कुछ कहा, वह करके भी दिखाया। आगम-साहित्य में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता, जहाँ वे किसी राजा, महाराजा अथवा ब्राह्मण क्षत्रिय के महलों में विराजे हों। हाँ, पोलासपुर में सद्दाल कुम्हार के यहाँ विराजना उनकी पतित-पावनता का वह उज्ज्वल आदर्श है, जो कोटि-कोटि युगों तक अजर अमर रह कर संसार को समता और दीन-वन्धुता का पाठ पढ़ाता रहेगा।

सर्वतो मुखी जीवन

भगवान् महावीर के जीवन के सम्बन्ध में क्या कुछ कहा जाय ? उनका जीवन एक मुखी नहीं, सर्वतोमुखी था। हम उन्हें किसी एक ही दिशा में बढ़ते नहीं पाते, प्रत्युत जिस क्षेत्र में भी देखते हैं, वे सबसे आगे और आगे दिखलाई देते हैं। आगम-साहित्य तथा तत्कालीन अन्य साहित्य पर दृष्टिपात कर जाइए। आप भगवान् महावीर को कहीं विलासी एवं अत्याचारी राजाओं को धर्मपरायण बनाते पाएँगे, तो कहीं दीन-दरिद्र गृहस्थों को पापाचार से बचाते पाएँगे। कहीं भिक्षुओं के लिए वैराग्य का समुद्र बहाते पाएँगे, तो कहीं गृहस्थों के लिए नीति-मूलक शिक्षाएँ देते पाएँगे। कहीं प्रौढ़ विद्वानों के साथ गम्भीर तत्त्व-चर्चा करते पाएँगे, तो कहीं साधारण जिज्ञासुओं को कथाओं के माध्यम से अति-सरल धर्म-प्रवचन सुनाते पाएँगे। कहीं गणधर गौतम जैसे प्रिय शिष्यों पर प्रेम की अमृत वर्षा करते पाएँगे, तो कहीं उन्हीं को गलती कर देने के अपराध में स्पष्ट दण्डाज्ञा भी सुनाते पाएँगे। बात यह है कि भगवान् को जहाँ कहीं भी जिस किसी भी रूप में पाते हैं, सर्वथा अलौकिक एवं अद्भुत पाते हैं।

भगवान् महावीर के महान् जीवन की झाँकी वर्णमाला के सीमित अक्षरों में नहीं दिखलाई जा सकती। भगवान् महावीर का जीवन न कभी पूरा लिखा गया है और न कभी लिखा जा सकेगा। अनन्त आकाश के गर्भ में असंख्य विहंगम उड़ानें भर चुके हैं, पर आकाश की इयत्ता का पता किसे है ? अतः यह प्रयास मात्र भगवान् के चरणों में श्रद्धांजलि अर्पण करने और जिज्ञासुओं को उनके दिव्य एवं विराट जीवन की केवल एक हल्की सी झाँकी दिखाने के लिए है।

* *
*

९

जैन धर्म के चार महान् तीर्थङ्करों के सम्बन्ध में आप पढ़ चुके हैं, किन्तु वर्तमान काल चक्र में तीर्थङ्कर चार ही नहीं चौबीस हुए हैं।
प्रस्तुत निबन्ध में आप पढ़िए तीर्थङ्करों का स्वरूप और उनका परिचय।

जैन तीर्थङ्कर

तीर्थङ्कर कौन होते हैं ?

'तीर्थङ्कर' जैन-साहित्य का एक मुख्य पारिभाषिक शब्द है। यह शब्द कितना पुराना है, इसके लिए इतिहास के फेर में पड़ने की जरूरत नहीं। आजकल का विकसित-से-विकसित इतिहास भी इसका प्रारम्भ काल पा सकने में असमर्थ है। और एक प्रकार से तो यह कहना चाहिए कि यह शब्द उपलब्ध इतिहास सामग्री से है भी बहुत दूर–परे की चीज।

जैन-धर्म के साथ उक्त शब्द का अभिन्न सम्बन्ध है। दोनों को दो अलग-अलग स्थानों में विभक्त करना, मानो दोनों के वास्तविक स्वरूप को ही विकृत कर देना है। जैनों की देखा-देखी यह शब्द अन्य पंथों[1] में भी कुछ-कुछ प्राचीन काल में व्यवहृत हुआ है, परन्तु वह सब नहीं के बराबर है। जैनों की तरह उनके यहाँ यह एक मात्र रूढ़ एवं उनका अपना निजी शब्द बन कर नहीं रह सका।

[1] देखिए, बौद्ध साहित्य का 'लंकावतार सूत्र'।

तीर्थङ्कर की परिभाषा

हाँ, तो जैन-धर्म में यह शब्द किस अर्थ में व्यवहृत हुआ है, और इसका क्या महत्त्व है? यह देख लेने की बात है। तीर्थङ्कर का शाब्दिक अर्थ होता है-तीर्थ का कर्त्ता अर्थात् बनाने वाला। 'तीर्थ' शब्द का जैन-परिभाषा के अनुसार मुख्य अर्थ है—धर्म। संसार-समुद्र से आत्मा को तिराने वाला एक मात्र अहिंसा एवं सत्य आदि धर्म ही है; अतः धर्म को तीर्थ कहना शब्द-शास्त्र की दृष्टि से उपयुक्त ही है। तीर्थङ्कर अपने समय में संसार-सागर से पार करने वाले धर्म-तीर्थ की स्थापना करते हैं, अतः वे तीर्थङ्कर कहलाते हैं। धर्म के आचरण करने वाले साधु, साध्वी, श्रावक = गृहस्थ पुरुष और श्राविका-गृहस्थस्त्रीरूप चतुर्विधसंघ को भी गौण दृष्टि से तीर्थ कहा जाता है। अतः चतुर्विध धर्म-संघ की स्थापना करने वाले महापुरुषों को भी तीर्थङ्कर कहते हैं।

जैन-धर्म की मान्यता है कि जब-जब संसार में अत्याचार का राज्य होता है, प्रजा दुराचारों से उत्पीड़ित हो जाती है, लोगों में धार्मिक भावना क्षीण होकर पाप भावना जोर पकड़ लेती है; तब-तब संसार में तीर्थङ्करों का अवतरण होता है। और वे संसार की मोह-माया का परित्याग कर, त्याग और वैराग्य की अखंड साधना में रम कर, अनेकानेक भयंकर कष्ट उठाकर, पहले स्वयं सत्य की पूर्ण ज्योति का दर्शन करते हैं— जैन-परिभाषा के अनुसार केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं, और फिर मानव-संसार को धर्मोपदेश देकर उसे असत्य-प्रपंच के चंगुल से छुड़ाते हैं, सत्य के पथ पर लगाते हैं और संसार में पूर्ण सुख-शान्ति का आध्यात्मिक साम्राज्य स्थापित करते हैं।

तीर्थङ्करों के शासन-काल में प्रायः प्रत्येक भव्य स्त्री-पुरुष अपने आप को पहचान लेता है, और 'स्वयं सुख पूर्वक जीना, दूसरों को सुख पूर्वक जीने देना तथा दूसरों को सुख पूर्वक जीते रहने के लिए अप ने सुखों की कुछ भी परवाह न करके अधिक-से-अधिक सहायता देना'—उक्त महान् सिद्धान्त को अपने जीवन में उतार लेता है। अस्तु तीर्थङ्कर वह है, जो संसार को सच्चे धर्म का उपदेश देता है, आध्यात्मिक तथा नैतिक पतन की ओर ले जाने, पापाचारों से वचाता है, संसार को भौतिक सुखों की लालसा से हटाकर अध्यात्म-सुखों का प्रेमी वनाता है, और वनाता है नरक-स्वरूप उन्मत्त एवं विक्षिप्त संसार को सत्यं शिवं सुन्दरं का स्वर्ग !

तीर्थङ्कर के लिए लोक-भाषा में यदि कुछ कहना चाहें तो उन्हें अध्यात्म मार्ग के सर्वोत्कृष्ट नेता कह सकते हैं। तीर्थङ्करों की आत्मा पूर्ण विकसित होती है, फलतः उनमें अनन्त आध्यात्मिक शक्तियाँ पूर्णतया प्रकट हो जाती हैं। उन्हें न किसी से राग होता है और न किसी से द्वेष। समस्त संसार को वे मित्रता की दृष्टि से देखते हैं, और वनस्पति आदि स्थावर ज वों से लेकर समस्त जंगम प्राणि-मात्र के प्रति प्रेम और करुणा भाव रखते हैं। यही कारण है कि उनके समवसरण में सर्प और नकुल, चूहा और बिल्ली, मृग और सिंह आदि जन्म-जात शत्रु प्राणी भी द्वेष-भाव को छोड़कर वड़े प्रेम व भ्रातृ-भाव के साथ पूर्ण शान्त अवस्था में रहते हैं। उनकी ज्ञानशक्ति अनन्त होती है। विश्व का कोई भी रहस्य ऐसा नहीं रहता, जो कि उनके ज्ञान में न देखा जाता हो। उनका जीवन अठारह दोषों से मुक्त, विशुद्ध एवं पवित्र होता है।

अष्टादश दोष

जैन धर्म में मानव जीवन की दुर्बलता के अर्थात् मनुष्य की अपूर्णताके सूचक निम्नोक्त अठारह दोष माने गए हैं—

१. मिथ्यात्व=असत्य विश्वास ।
२. अज्ञान ।
३. क्रोध ।
४. मान ।
५. माया=कपट ।
६. लोभ ।
७. रति=मन पसन्द वस्तु के मिलने पर हर्ष ।
८. अरति=अमनोज्ञ वस्तु के मिलने पर खेद ।
९. निद्रा ।
१०. शोक ।
११. अलीक= झूठ ।
१२. चौर्य=चोरी ।
१३. मत्सर=डाह ।
१४. भय ।
१५. हिंसा ।
१६. राग=आसक्ति ।
१७. क्रीड़ा=खेल तमाशा नाच-रंग ।
१८. हास्य=हंसी मजाक ।

जव तक मनुष्य इन अठारह दोषों से सर्वथा मुक्त नहीं होता, तव तक वह आध्यात्मिक शुद्धि के पूर्ण विकास के पद पर नहीं पहुँच सकता । ज्यों ही वह अठारह दोषों से मुक्त होता है, त्यों ही आत्म-शुद्धि के महान् ऊँचे शिखर पर पहुँच जाता है और केवल-ज्ञान एवं केवल-दर्शन के द्वारा समस्त

विश्व का ज्ञाता-द्रष्टा बन जाता है। तीर्थङ्कर भगवान् उक्त अठारह दोषों से सर्वथा रहित होते हैं। एक भी दोष, उनके जीवन में नहीं रहता।

तीर्थङ्कर ईश्वरीय अवतार नहीं हैं

जैन तीर्थङ्करों के सम्बन्ध में कुछ लोग बहुत भ्रान्त धारणाएँ रखते हैं। उनका कहना है कि—जैन अपने तीर्थङ्करों को ईश्वर का अवतार मानते हैं। मैं उन बन्धुओं से कहूंगा कि वे भूल में हैं। जैन-धर्म ईश्वरवादी नहीं है। वह संसार के कर्ता, धर्ता और संहर्ता किसी एक ईश्वर को नहीं मानता। उसकी यह मान्यता नहीं है कि हजारों भुजाओं वाला, दुष्टों का नाश करने वाला, भक्तों का पालन करने वाला, सर्वथा परोक्ष कोई एक ईश्वर है; और वह यथा समय त्रस्त संसार पर दया-भाव लाकर गो-लोक, सत्य-लोक या वैकुण्ठ धाम आदि से दौड़कर संसार में आता है, किसी के यहाँ जन्म लेता है, और फिर लीला दिखाकर वापस लौट जाता है। अथवा जहाँ कहीं भी है, वहीं से बैठा हुआ संसार-घटिका की सूई फेर देता है और मनचाहा बजा देता है।

जैन-धर्म में मनुष्य से बढ़कर और कोई दूसरा महान् प्राणी नहीं है। जैन शास्त्रों में आप जहाँ कहीं भी देखेंगे, मनुष्यों को सम्बोधन करते हुए 'देवाणुप्पिय' शब्द का प्रयोग पाएँगे। उक्त सम्बोधन का यह भावार्थ है कि 'देव-संसार' भी मनुष्य के आगे तुच्छ है। वह भी मनुष्य के प्रति प्रेम, श्रद्धा एवं आदर का भाव रखता है। मनुष्य असीम तथा अनन्त शक्तियों का भंडार है। वह दूसरे शब्दों में स्वयंसिद्ध ईश्वर है, परन्तु संसार की मोह-माया के कारण कर्म-मल से आच्छादित है, अतः बादलों से ढँका हुआ सूर्य है, जो सम्यक् रूप से अपना प्रकाश नहीं प्रसारित कर सकता।

परन्तु ज्यों ही वह होश में आता है, अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानता है, दुर्गुणों को त्यागकर सद्गुणों को अपनाता है; तो धीरे-धीरे निर्मल शुद्ध एवं स्वच्छ होता चला जाता है, एक दिन जगमगाती हुई अनंत शक्तियों का प्रकाश प्राप्त कर मानवता के पूर्ण विकास की कोटि पर पहुँच जाता है और सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, ईश्वर, परमात्मा, शुद्ध, बुद्ध बन जाता है। तदनन्तर जीवन्मुक्त दशा में संसार को सत्य का प्रकाश देता है और अन्त में निर्वाण पाकर मोक्ष-दशा में सदा काल के लिए अजर-अमर अविनाशी—जैन-परिभाषा में सिद्ध हो जाता है।

अस्तु, तीर्थङ्कर भी मनुष्य ही होते हैं। वे कोई अजीब दैवी सृष्टि के प्राणी, ईश्वर, अवतार या ईश्वर के अंश जैसे कुछ नहीं होते। एक दिन वे भी हमारी-तुम्हारी तरह ही वासनाओं के गुलाम थे, पाप-मल से लिप्त थे, संसार के दुःख, शोक, आधि-व्याधि से संत्रस्त थे। सत्य क्या है, असत्य क्या है—यह उन्हें कुछ भी पता नहीं था। इन्द्रिय-सुख ही एकमात्र ध्येय था, उसी की कल्पना के पीछे अनादि काल से नाना प्रकार के क्लेश उठाते, जन्म-मरण के झंझावात में चक्कर खाते घूम रहे थे। परन्तु अपूर्व पुण्योदय से सत्पुरुषों का संग मिला, चैतन्य और जड़ का भेद समझा, भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख का महान् अन्तर ध्यान में आया, फलतः संसार की वासनाओं से मुँह मोड़ कर सत्य-पथ के पथिक बन गए। आत्म-संयम की साधना में पहले के अनेक जन्मों से ही आगे बढ़ते गए और अन्त में एक दिन वह आया कि आत्म-स्वरूप की पूर्ण उपलब्धि उन्हें हो गई। ज्ञान की ज्योति जगमगाई और वे तीर्थङ्कर के रूप में प्रकट होगए। उस जन्म में भी यह नहीं कि किसी राजा-

महाराजा के यहाँ जन्म लिया और वयस्क होने पर भोग-विल
करते हुए ही तीर्थङ्कर होगए। उन्हें भी राज्य वैभव छोड़
होता है, पूर्ण अहिंसा, पूर्ण सत्य, पूर्ण अस्तेय, पूर्ण ब्रह्मचर्य
और पूर्ण अपरिग्रह की साधना में निरन्तर जुटा रहना होता
है, पूर्ण विरक्त मुनि बनकर एकान्त निर्जन स्थानों में आत्म
मनन करना होता है, अनेक प्रकार के आधिभौतिक, आधिदैवि
एवं आध्यात्मिक दुःखों को पूर्ण शान्ति के साथ सहन क
प्राणापहरी शत्रु पर भी अन्तर्हृदय से दयामृत का शीतल झरन
वहाना होता है, तव कहीं पाप-मल से मुक्ति होने पर केव
ज्ञान और केवल-दर्शन की प्राप्ति के द्वारा तीर्थङ्कर पद प्रा
होता है।

तीर्थङ्कर का पुनरागमन नहीं

वहुत से स्थानों में अजैन वन्धुओं द्वारा यह शंका सामने
आती है कि "जैनों में २४ ईश्वर या देव हैं, जो प्रत्येक काल-चक्र
में वारी-वारी से जन्म लेते हैं और धर्मोपदेश देकर पुनः अन्तर्धान
हो जाते हैं।" इस शंका का समाधान कुछ तो पहले ही कर
दिया गया है। फिर भी स्पष्ट शब्दों में यह वात वतला देना
चाहता हूँ कि—जैन-धर्म में ऐसा अवतारवाद नहीं माना गया
है। प्रथम तो अवतार शब्द ही जैन-परिभाषा का नहीं है। यह
एक वैष्णव परम्परा का शब्द है, जो उसकी मान्यता के अनुसार
विष्णु के वार-वार जन्म लेने के रूप में राम, कृष्ण आदि
सत्पुरुषों के लिए आया है। आगे चलकर यह मात्र महापुरुष
का द्योतक रह गया और इसी कारण आजकल के जैन-वन्धु
भी किसी के पूछने पर झटपट अपने यहाँ २४ अवतार वता देते
हैं, और तीर्थङ्करों को अवतार कह देते हैं। परन्तु इसके पीछे
किसी एक व्यक्ति के द्वारा वार-वार जन्म लेने की भ्रान्ति भी
चली आई है; जिसको लेकर अवोध जनता में यह विश्वास फै

गया है कि २४ तीर्थङ्करों की मूल संख्या एक शक्तिविशेष के रूप निश्चित है और वही महा शक्ति प्रत्येक काल चक्र में वार-वार जन्म लेती है, संसार का उद्धार करती हैं, और फिर अपने स्थान में जाकर विराजमान हो जाती है।

जैन-धर्म में मोक्ष प्राप्त करने के वाद संसार में पुनरागमन नहीं माना जाता। विश्व का प्रत्येक नियम कार्य-कारण के रूप में सम्वद्ध है। विना कारण के कभी कार्य नहीं हो सकता। वीज होगा, तभी अंकुर हो सकता है; धागा होगा तभी वस्त्र वन सकता है। आवागमन का, जन्म-मरण पाने का कारण कर्म है, और वह मोक्ष अवस्था में रहता नहीं। अतः कोई भी विचारशील सज्जन समझ सकता है कि—जो आत्मा कर्म-मल से मुक्त होकर मोक्ष पा चुका, वह फिर संसार में कैसे आ सकता है? वीज तभी तक उत्पन्न हो सकता है, जव तक कि वह भुना नहीं है, निर्जीव नहीं हुआ है। जव वीज एक वार भुन गया, तो फिर कभी भी उससे अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता। जन्म-मरण के अंकुर का वीज कर्म है। जव उसे तपश्चरण आदि धर्म-क्रियाओं से जला दिया, तो फिर जन्म-मरण का अंकुर कैसे फूटेगा? आचार्य उमास्वाति ने अपने तत्वार्थ भाष्य में, इस सम्वन्ध में क्या ही अच्छा कहा है:—

> दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं
> प्रादुर्भवति नांकुरः।
> कर्म-बीजे तथा दग्धे,
> न रोहति भवांकुरः॥

वहुत दूर चला आया हूं; परन्तु विषय को स्पष्ट करने के लिए इतना विस्तार के साथ लिखना आवश्यक भी था। अव आप अच्छी तरह समझ गए होंगे कि जैनतीर्थङ्कर मुक्त हो

जाते हैं, फलतः वे संसार में दुबारा नहीं आते। अस्तु, प्रत्येक काल-चक्र में जो २४ तीर्थंकर होते हैं, वे सब पृथक्-पृथक् आत्मा होते हैं; एक नहीं।

तीर्थङ्करों व अन्य मुक्त आत्माओं में अन्तर

अब एक और गम्भीर प्रश्न है, जो प्रायः हमारे सामने आया करता है। कुछ लोग कहते हैं कि—'जैन अपने २४ तीर्थंकरों का ही मुक्त होना मानते हैं, और कोई इनके यहाँ मुक्त नहीं होते।' यह बिल्कुल ही भ्रान्तधारणा है। इसमें सत्य का कुछ भी अंश नहीं है।

तीर्थङ्करों के अतिरिक्त अन्य आत्माएँ भी मुक्त होती हैं। जैन-धर्म किसी एक व्यक्ति, जाति या समाज के अधिकार में ही मुक्ति का ठेका नहीं रखता। उसकी उदार दृष्टि में तो हर कोई मनुष्य, चाहे वह किसी भी देश, जाति, समाज, या धर्म का हो, जो अपने आप को बुराइयों से बचाता है; आत्मा को अहिंसा, क्षमा, सत्य, शील आदि सद्गुणों से पवित्र बनाता है, वह अनन्त ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करके मुक्त हो सकता है।

तीर्थङ्करों की और अन्य मुक्त होने वाले महान् आत्माओं की आंतरिक शक्तियों में कोई भेद नहीं है। केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन आदि आत्मिक शक्तियाँ सभी मुक्त होने वालों में समान होती हैं। जो कुछ भेद है, वह धर्म-प्रचार की मौलिक दृष्टि का और अन्य योग-सम्बन्धी अद्भुत शक्तियों का है। तीर्थङ्कर महान् धर्म-प्रचारक होते हैं, वे अपने अद्वितीय तेजोबल से अज्ञान एवं अन्धविश्वासों का अन्धकार छिन्न-भिन्न कर देते हैं, और एक प्रकार से जीर्ण-शीर्ण, गले-सड़े मानव-संसार का काया-कल्प कर डालते हैं। उनकी योग-सम्बन्धी शक्तियाँ अर्थात् सिद्धियाँ भी बड़ी ही अद्भुत होती हैं। उनका शरीर पूर्ण स्वस्थ

एवं निर्मल रहता है, मुख के श्वास-उच्छ्वास सुगन्धित होते हैं। वैरानुबद्ध विरोधी प्राणी भी उपदेश श्रवण कर शान्त हो जाते हैं। उनकी उपस्थिति में दुर्भिक्ष एवं अतिवृष्टि आदि उपद्रव नहीं होते, महामारी भी नहीं होती। उनके प्रभाव से रोग-ग्रस्त प्राणियों के रोग भी दूर हो जाते हैं। उनकी भाषा में वह चमत्कार होता है कि—क्या आर्य और क्या अनार्य मनुष्य, क्या पशु पक्षी, सभी उनकी दिव्य वाणी का भावार्थ समझ लेते हैं। इस प्रकार अनेक लोकोपकारी सिद्धियों के स्वामी तीर्थङ्कर होते हैं, जबकि दूसरे मुक्त होने वाले आत्मा ऐसे नहीं होते। अर्थात् न तो वे तीर्थङ्कर जैसे महान् धर्म-प्रचारक ही होते हैं, और न इतनी अलौकिक योग-सिद्धियों के स्वामी ही। साधारण मुक्त जीव अपना अन्तिम विकास-लक्ष्य अवश्य प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु जनता पर अपना चिरस्थायी एवं अक्षुण्ण आध्यात्मिक प्रभुत्व नहीं जमा पाते। यही एक विशेषता है, जो तीर्थङ्कर और अन्य मुक्त आत्माओं में भेद करती है।

प्रस्तुत विषय के साथ लगती हुई यह बात भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह भेद, मात्र जीवन्मुक्त-दशा में अर्थात् देहधारी अवस्था में ही है। मोक्ष प्राप्ति के बाद कोई भी भेद-भाव नहीं रहता। वहाँ तीर्थङ्कर और अन्य मुक्त आत्मा, सभी एक ही स्वरूप में रहते हैं। क्योंकि जब तक जीवात्मा जीवन्मुक्त दशा में रहता है, तब तक तो प्रारब्ध-कर्म का भोग बाकी रहता है, अतः उसके कारण जीवन में भेद रहता है। परन्तु देह-मुक्त दशा होने पर मोक्ष में तो कोई भी कर्म अवशिष्ट नहीं रहता, फलतः कर्म-जन्य भेद-भाव भी नहीं रहता।

* * *

१०

तीर्थङ्कर की परिभाषा और उनके स्वरूप के सम्बन्ध में पिछले अध्यायों में आप पढ़ चुके हैं। इस अध्याय में पढ़िए वर्तमान काल चक्र के चौवीस तीर्थङ्करों का संक्षिप्त जीवन परिचय।

चौबीस तीर्थङ्कर

आध्यात्मिक-विकास के उच्च शिखर पर पहुँचने वाले महा-पुरुषों को जैन-धर्म में तीर्थङ्कर कहा जाता है। तीर्थङ्करदेव राग, द्वेष, भय, आश्चर्य, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, चिंता आदि विकारों से सर्वथा रहित होते हैं। केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन से युक्त होते हैं। स्वर्ग के देवता भी उनके चरण कमलों में श्रद्धा-भक्ति के साथ वन्दना करते हैं।

तीर्थङ्करों का जीवन बहुत ही महान् होता है। उनके समव-सरण (धर्म-सभा) में अहिंसा का अखण्ड राज्य होता है। सिंह और मृग आदि विरोधी प्राणी भी एक साथ प्रेम से बैठे रहते हैं। न सिंह में मारक-वृत्ति रहती है और न मृग में भय-वृत्ति। अहिंसा के देवता के सामने हिंसा का अस्तित्व भला कैसे रह सकता है?

आपको ये बातें शायद असम्भव जैसी मालूम होती हैं, परन्तु आध्यात्मिक शक्ति के सामने कुछ भी असम्भव नहीं है। आजकल भौतिक विद्या के चमत्कार ही कुछ कम आश्चर्यजनक हैं क्या? तब आध्यात्मिक विद्या के चमत्कारों का तो कहना ही

क्या ? उनके आध्यात्मिक वैभव की तुलना अन्य किसी से की ही नहीं जा सकती।

वर्तमान काल-प्रवाह में चौवीस तीर्थङ्कर हुए हैं। प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में चौवीसों ही तीर्थङ्करों का विस्तृत जीवन-चरित्र मिलता है। परन्तु यहाँ विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही चौवीस तीर्थङ्करों का परिचय दिया जाता है।

१. ऋषभदेव

भगवान् ऋषभदेव पहले तीर्थङ्कर थे। उनका जन्म युगलियों के युग में हुआ, जब मनुष्य वृक्षों के नीचे रहते थे और वन-फल तथा कन्दमूल खाकर जीवन-यापन करते थे। उनके पिता का नाम नाभिराजा और माता का नाम मरुदेवा था। उन्होंने युवावस्था में आर्य-सभ्यता की नींव डाली। पुरुषों को बहत्तर और स्त्रियों को चौंसठ कलाएँ सिखाईं। वे विवाहित हुए। बाद में राज्य त्याग कर दीक्षा ग्रहण की और कैवल्य पाया। भगवान् ऋषभदेव का जन्म, चैत्रकृष्णा अष्टमी को और निर्वाण=मोक्ष माघ कृष्णा त्रयोदशी को हुआ। उनकी निर्वाण-भूमि अष्टापद (कैलाश) पर्वत है। ऋग्वेद, विष्णुपुराण, अग्नि पुराण, भागवत आदि वैदिक साहित्य में भी उनका गुण-कीर्तन किया गया है।

२. अजितनाथ

भगवान् अजितनाथ दूसरे तीर्थङ्कर थे। उनका जन्म अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय सम्राट् जितशत्रु राजा के यहाँ हुआ। माता का नाम विजयादेवी था। भारतवर्ष के दूसरे चक्रवर्ती सगर इनके चचा सुमित्रविजय के पुत्र थे। भगवान् अजितनाथ का जन्म माघशुक्ला अष्टमी को और निर्वाण चैत्रशुक्ला पंचमी को हुआ। उनकी निर्वाण-भूमि

सम्मेतशिखर है, जो आजकल विहार में पारसनाथ पहाड़ के नाम से प्रसिद्ध है।

३. संभवनाथ

भगवान् संभवनाथ तीसरे तीर्थङ्कर थे। उनका जन्म श्रावस्ती नगरी में हुआ। पिता का नाम इक्ष्वाकुवंशीय महाराजा जितारि और माता का नाम सेनादेवी था। उन्होंने पूर्व जन्म में विपुल वाहन राजा के रूप में अकालग्रस्त प्रजा का पालन किया था और अपना सब कोष दीनों के हितार्थ लुटा दिया था। भगवान् संभवनाथ का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला चतुर्दशी को और निर्वाण चैत्रशुक्ला पंचमी को हुआ। निर्वाण-भूमि भी सम्मेतशिखर है।

४ अभिनंदन

भगवान् अभिनंदननाथ चौथे तीर्थङ्कर थे। इनका जन्म अयोध्या नगरी के इक्ष्वाकुवंशीय राजा संवर के यहाँ हुआ। माता का नाम सिद्धार्था था। भगवान् अभिनंदननाथ का जन्म माघशुक्ला द्वितीया को और निर्वाण वैशाखशुक्ला अष्टमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

५. सुमतिनाथ

भगवान् सुमतिनाथ पाँचवे तीर्थङ्कर थे। उनका जन्म अयोध्या नगरी (कौशलपुरी) में हुआ। उनके पिता महाराजा मेघरथ और माता सुमंगलादेवी थी। भगवान् सुमतिनाथ का जन्म वैशाखशुक्ला अष्टमी को तथा निर्वाण चैत्रशुक्ला नवमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। वे जब गर्भ में आए, तब माता की बुद्धि बहुत श्रेष्ठ और तीव्र हो गई थी, अतः उनका नाम सुमतिनाथ रखा गया।

६. पद्मप्रभ

भगवान् पद्मप्रभ छठे तीर्थङ्कर थे। उनका जन्म कौशाम्वी नगरी के राजा श्रीधर के यहाँ हुआ। माता का नाम सुसीमा था। जन्म कार्तिककृष्णा द्वादशी को और निर्वाण मार्गशीर्ष कृष्णा एकादशी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

७ सुपार्श्वनाथ

भगवान् सुपार्श्वनाथ सातवें तीर्थङ्कर थे। उनकी जन्मभूमि काशी (वाराणसी), पिता प्रतिष्ठेन राजा और माता पृथ्वी। जन्म ज्येष्ठशुक्ला द्वादशी को और निर्वाण भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

८ चन्द्रप्रभ

भगवान् चन्द्रप्रभ आठवें तीर्थङ्कर थे। उनकी जन्म-भूमि चन्द्रपुरी नगरी, पिता महासेन राजा, और माता लक्ष्मणा थी। भगवान् चन्द्रप्रभ का जन्म पौषशुक्ला द्वादशी को और निर्वाण भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेत-शिखर है।

९. सुविधिनाथ

भगवान् सुविधिनाथ (पुष्पदन्त) नौवें तीर्थङ्कर थे। उनकी जन्म-भूमि काकन्दी नगरी, पिता सुग्रीव राजा, माता रामादेवी थी। जन्म मार्गशीर्ष कृष्णा पंचमी को और निर्वाण भाद्रपद शुक्ला नवमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

१०. शीतलनाथ

भगवान् शीतलनाथ दशवें तीर्थङ्कर थे। उनकी जन्म-भूमि भद्दिलपुर नगरी। पिता दृढ़रथ राजा और माता नन्दारानी। जन्म माघकृष्णा द्वादशी को और निर्वाण वैशाखकृष्णा द्वितीया को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

११. श्रेयांसनाथ

भगवान् श्रेयांसनाथ ग्यारहवें तीर्थङ्कर थे। जन्म-भूमि सिंहपुर नगरी, पिता विष्णुसेन राजा और माता विष्णादेवी। जन्म फाल्गुनकृष्णा द्वादशी को और निर्वाण श्रावणकृष्णा तृतीया को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। भगवान् महावीर ने पूर्व जन्मों में त्रिपृष्ठ वासुदेव के रूप में भगवान् श्रेयांसनाथजी के चरणों में उपदेश प्राप्त किया था।

१२. वासुपूज्य

भगवान् वासुपूज्य वारहवें तीर्थङ्कर थे। जन्म-भूमि चम्पा नगरी, पिता वसुपूज्य राजा और माता जयादेवी। आपका जन्म फाल्गुनकृष्णा चतुर्दशी को और निर्वाण आषाढ़शुक्ला चतुर्दशी को हुआ। निर्वाण-भूमि चम्पा नगरी। वे वालब्रह्मचारी रहे; विवाह नहीं किया।

१३. विमलनाथ

भगवान् विमलनाथ तेरहवें तीर्थङ्कर थे। उनकी जन्म-भूमि कम्पिलपुर नगरी, पिता कर्तृ वर्म राजा और माता श्यामादेवी। जन्म माघशुक्ला तृतीया और निर्वाण आषाढ़कृष्णा सप्तमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

१४. अनन्तनाथ

भगवान् अनन्तनाथ चौदहवें तीर्थङ्कर थे। जन्म-भूमि अयोध्या नगरी, पिता सिंहसेन राजा और माता सुयशा। जन्म वैशाखकृष्णा तृतीया को और निर्वाण चैत्रशुक्ला पंचमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

१५ धर्मनाथ

भगवान् धर्मनाथ पन्द्रहवें तीर्थङ्कर थे। जन्म-भूमि रत्नपुर नामक नगरी, पिता भानुराजा और माता सुव्रता। जन्म माघ

शुक्ला तृतीया को और निर्वाण ज्येष्ठशुक्ला पंचमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

१६. शान्तिनाथ

भगवान् शान्तिनाथ सोलहवें तीर्थङ्कर थे। आपका जन्म हस्तिनागपुर के राजा विश्वसेन की अचिरा रानी से हुआ। जन्म ज्येष्ठकृष्णा त्रयोदशी को और निर्वाण भी इसी तिथि को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। भगवान् शान्तिनाथ भारत के पंचम चक्रवर्ती राजा भी थे। इनके जन्म लेने पर देश में फैली हुई मृगी रोग की महामारी शान्त होगई थी, इसलिए माता पिता ने उनका नाम शान्तिनाथ रखा। ये वहुत ही दयालु प्रकृति के थे। पहले जन्म में जव कि वे मेघरथ राजा थे, कबूतर की रक्षा के लिए वदले में वाज को अपने शरीर का मांस काट कर दे दिया था।

१७. कुन्थुनाथ

भगवान् कुन्थुनाथ सतरहवें तीर्थङ्कर थे। उनका जन्म-स्थान हस्तिनागपुर, पिता सूरराजा, माता श्रीदेवी थी। जन्म वैशाख कृष्णा चतुर्दशी और निर्वाण वैशाखकृष्णा प्रतिपदा (एकम) को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। भगवान् कुन्थुनाथ भारत के छठे चक्रवर्ती राजा भी थे।

१८. अरनाथ

भगवान् अरनाथ अठारहवें तीर्थङ्कर थे। जन्म-स्थान हस्तिनागपुर, पिता सुदर्शनराजा और माता श्रीदेवी। आपका जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी और निर्वाण भी मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को ही हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। भगवान् अरनाथ भारत के सातवें चक्रवर्ती राजा भी थे।

८

आदर्श जैन

जो सकल विश्व की शान्ति चाहता है,
सबको प्रेम और स्नेह की आँखों से देखता है,
वही सच्चा जैन है !

*　　　　*　　　　*

जो शान्ति का मधुर संगीत सुनाकर,
सबको ज्ञान का प्रकाश दिखलाता है,
कर्तव्य-वीरता का डंका बजाकर,
प्रेम की सुगन्ध फैलाता है,
अज्ञान और मोह की निद्रा से सबको जगाता है,
वही सच्चा जैन है !

*　　　　*　　　　*

ज्ञान-चेतना की गंगा बहाने वाला
मधुरता की जीवित मूर्ति

कर्तव्य क्षेत्र का अविचल वीर योद्धा,
वही सच्चा जैन है !

* * *

जैन का अर्थ 'अजेय' है,
मन और इन्द्रियों के विकारों को जीतने वाला,
आत्म-विजय की दिशा में सतत सतर्क रहने वाला,
वही सच्चा जैन है !

* * *

'जैनत्व' और कुछ नहीं, आत्मा की शुद्ध स्थिति है !
आत्मा को जितना कसा जाय, उतना ही जैनत्व का विकास !
जैन कोई जाति नहीं, धर्म है !
किसी भी देश, पंथ और जाति का
कोई भी आत्म-विजय-पथ का यात्री, वही जैन !

* * *

जैन बहुत थोड़ा, परन्तु मधुर बोलता है;
मानो, झरता हुआ अमृतरस हो !
उसकी मृदुवाणी, कठोर-से-कठोर हृदय को भी
पिघला कर मक्खन बना देती है !
जैन के जहाँ भी पाँव पड़ें, वहीं कल्याण फैल जाय !
जैन का समागम,
जैन का सह-चार
सबको अपूर्व शान्ति देता है !
इसके गुलाबी हास्य के पुष्प
मानव-जीवन को सुगन्धित बना देते हैं !

उसकी सब प्रवृत्तियाँ
जीवन में रस और कला भरने वाली हैं !

* * *

जैन गहरा है, अत्यन्त गहरा है !
वह छिछला नहीं, छलकने वाला नहीं !
उसके हृदय की गहराई में
शक्ति और शान्ति का अक्षय भण्डार,
धैर्य और शौर्य का प्रबल प्रवाह है,
श्रद्धा और निर्दोष भक्ति की मधुर झंकार है !

* * *

धन-वैभव से जैन को कौन खरीद सकता है ?
धमकियों से उसे कौन डरा सकता है ?
और खुशामद से भी कौन जीत सकता है ?
कोई नहीं, कोई नहीं !
सिद्धान्त के लिए काम पड़े तो वह पल भर में
स्वर्ग के साम्राज्य को भी ठोकर मार सकता है !

* * *

जैन के त्याग में, दिव्य-जीवन की सुगन्ध है !
आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण का विलक्षण मेल है !
जैन की शक्ति, संहार के लिए नहीं है !
वह तो अशक्तों को शक्ति देती है,
शुभ की स्थापना करती है,
और अशुभ का नाश करती है !
सच्चा जैन पवित्रता और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए,
मृत्यु को भी सहर्ष सानन्द निमंत्रण देता है।
जैन जीता है,
आत्मा के पूर्ण वैभव में,

और मरता भी है वह,
आत्मा के पूर्ण वैभव में !

*　　　　*　　　　*

जैन की गरीबी में सन्तोष की छाया है !
जैन की अमीरी में गरीबों का हिस्सा है !

*　　　　*　　　　*

जैन आत्म-श्रद्धा की नौका पर चढ़ कर,
निर्भय और निर्द्वन्द्व भाव से जीवन-यात्रा करता है !
विवेक के उज्ज्वल झंडे के नीचे,
अपने व्यक्तित्व को चमकाता है !
राग और द्वेष से रहित,
वासनाओं का विजेता 'अरिहंत' उसका उपास्य है !
हिमगिरि के समान अचल एवं अडोल जैन,
दुनिया के प्रवाह में स्वयं न वह कर,
दुनिया को ही अपनी ओर आकृष्ट करता है !
मानव-संसार को अपने उज्ज्वल चरित्र से प्रभावित करता है !
अतएव एक दिन देवगण भी
सच्चे जैन की चरण-सेवा में,
सादर सभक्ति मस्तक झुका देते हैं !

*　　　　*

जैन बनना, साधक के लिए
परम सौभाग्य की बात है !
जैनत्व का विकास करना,
इसी में मानव-जीवन का परम कल्याण है !

['आदर्श जैन' के आधार पर]

*　*
*

१२

दान तभी दिया जा सकता है जब मन में करुणा, त्याग व उदारता की कोई लहर उठती है। दान का जितना सामाजिक महत्त्व है उससे भी कहीं अधिक आध्यात्मिक महत्त्व है। धर्म-साधना का वह मुख्य अंग है। अतः आवश्यक है कि उसके सम्बन्ध में हमें यथेष्ट ज्ञान हो, इसलिए पढ़िए प्रस्तुत निबन्ध—दान !

दान

दान की महत्ता

भारतवर्ष धर्म-प्रधान देश है। यहाँ धर्म को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। यहाँ छोटी-से-छोटी बात को भी धर्म की कसौटी पर परखा जाता है। भारत में धर्म-क्रियाओं की कोई निश्चित गिनती नहीं है। जीवन समाप्त हो सकता है, परन्तु धर्म-क्रियाओं की गणना नहीं हो सकती। जितने भी अच्छे विचार और अच्छे आचार हैं, वे सब धर्म हैं।

परन्तु विश्व के धर्मों में सबसे बड़ा धर्म कौन है ?—यह प्रश्न है, जो अनादि काल से साधक के मन में उठता आया है। इस प्रश्न का समाधान अनेक प्रकार से किया गया है। किसी महापुरुष ने तप को बड़ा धर्म बताया है, किसी ने दया को, किसी ने सत्य को, किसी ने भगवद्भक्ति को, किसी ने ब्रह्मचर्य को, तो किसी ने क्षमा को। सभी ने अपने-अपने दृष्टिकोण से

ठीक कहा है। परन्तु हमें यहाँ एक महापुरुष की वात, सवसे अच्छी मालूम देती है कि "दान-धर्म सबसे बड़ा धर्म है।"

दान का महत्त्व वहुत वढ़ा-चढ़ा है। दान दुर्गति का नाश करता है, मनुष्य के हृदय को विशाल और विराट वनाता है, सोई हुई मानवता को जागृत करता है, हृदय में दया और प्रेम की गंगा वहा देता है, सहानुभूति का एक सुन्दर सुरभिमय वातावरण तैयार करता है। दान देने से संसार में कोई भी वस्तु अप्राप्य नहीं रहती। दान देने वाला सर्वत्र प्रेम और आदर का स्थान पाता है। उसके यश की सुगन्ध दशों दिशाओं में सर्वत्र फैल जाती है।

दान देना कोई साधारण कार्य नहीं है। अपनी संग्रह की हुई वस्तु को मुक्तमन से प्रसन्नतापूर्वक किसी को अर्पण कर देना, वस्तुतः वहुत वड़े सत्-साहस का काम है। लोग कौड़ी-कौड़ी पर मरते हैं, लड़ते-झगड़ते हैं। पैसे-पैसे के लिए अपने प्राणों को खतरे में डालते हैं। दुनिया-भर का तूफान खड़ा करने के वाद कहीं चार पैसे प्राप्त होते हैं। दश प्राण तो शास्त्रों में वताए ही हैं। धन को लोग ग्यारहवाँ प्राण वतलाते हैं। तभी तो कहा है 'देना और मरना बराबर है।' अपने पसीने की गाढ़ी कमाई को परोपकार में खर्च करना, वड़े ही भाग्यशाली दिव्य आत्माओं का काम है। जो स्त्री-पुरुष निःस्वार्थ भाव से दान करते हैं, और दान करके प्रसन्न रहते हैं, सचमुच वे देवस्वरूप हैं। दान देते समय दाता, जीवन की एक वहुत वड़ी ऊँचाई पर, पहुँच जाता है।

जैनधर्म में दान की वड़ी महिमा गाई है। दान देने वाले को स्वर्ग और मोक्ष का अधिकारी वतलाया है। भगवान् महावीर खुद वहुत वड़े दानी थे। वचपन से ही उन्हें दान से प्रेम

था। किसी भी भूखे गरीब को देखते, तो उनकी आँखों में दया के आँसू उमड़ने लगते। जो भी पास में होता, गरीबों को दान कर देते। भगवान् महावीर राजकुमार थे। उन्हें किसी भी भौतिक सुख-साधन की कमी नहीं थी। वे प्रायः अपना भोजन साथियों को बाँट कर ही खाते थे। राजपाट त्याग कर जब मुनि होने लगे, तब भी भगवान् महावीर ने एक वर्ष तक निरन्तर दान दिया। जो कुछ भी अपने पास धन का संग्रह था, वह सब-का-सब जनसेवा में अर्पित कर दिया। उन दिनों भगवान् महावीर एक वर्ष तक प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुद्राएँ दान में देते रहे। भगवान् पार्श्वनाथ आदि दूसरे तीर्थङ्कर भी बहुत बड़े दानी थे। जैन धर्म में जहाँ दान, शील, तप और भावना के रूप में धर्म के चार भेद बताये हैं, वहाँ सर्व-प्रथम स्थान दान को ही प्रदान किया है। वस्तुतः दान है भी सर्व-प्रथम स्थान पाने के योग्य।

दान के चार भेद

जैन शास्त्रों में दान के चार प्रकार बतलाए हैं—(१) आहार-दान, (२) औषध-दान, (३) ज्ञान-दान और (४) अभय-दान।

१. आहार-दान

देहधारी के लिए सबसे पहली आवश्यकता भोजन की है। जब भूख लगी होती है, तब कुछ भी नहीं सूझता। अन्न जीवन का प्राण है। जिसने अन्न का दान दिया, उसने सबकुछ दिया।

घर पर आए हुए संसार-त्यागी साधु-मुनिराजों को विनय-भक्ति के साथ आहार बहराना चाहिए। मुनियों को दान देना अक्षय धर्म को प्राप्त करना है। सच्चे साधुओं को आहार-दान करने से पाप कर्मों की बहुत अधिक निर्जरा होती है।

साधुओं के अतिरिक्त किसी भूखे गरीब को भोजन देना भी वहुत वड़े धर्म एवं पुण्य का कार्य है। राजा प्रदेशी ने जैन मुनि केशी कुमार स्वामी के उपदेश से प्रभावित होकर गरीवों के लिए अपने राज्य की आय का चतुर्थांश दान में लगाने का प्रवन्ध किया था। जैन धर्म विश्व-वेदना का अनुभव सदा से करता आया है। जनता के दुःख-दर्द में वरावर का हिस्सेदार वन कर यथोचित सहायता पहुँचाना, उसने अपना महान कर्त्तव्य माना है।

२ औषध-दान

मनुष्य जव रोग-ग्रस्त होता है, तव किसी भी काम का नहीं रहता है। न वह यथोचित पुरुषार्थ कर अपना और अपने परिवार का ही पेट पाल सकता है, और न अच्छी तरह श्रद्धाभावना के साथ धर्माराधन ही कर सकता है। मन स्वस्थ होने पर ही सव साधना होती है और मन की स्वस्थता प्रायः तन की स्वस्थता पर निर्भर है। यदि तुम कभी वीमार पड़े हो, तो उस समय का अनुभव स्मृति में लाओ। कितनी वेदना होती थी? कितना छटपटाते थे? वस, समझलो, सव जीवों को अपने समान ही दुःख होता है। अतएव जैन धर्म में औषध-दान का भी वहुत वड़ा महत्व है।

आचार्य अमितगति ने उपासकाचार में कहा है कि "औषध-दान का महत्त्व वचन से वर्णन नहीं किया जा सकता। औषध-दान पाकर जव मनुष्य नीरोग होता है तो एक वार तो सिद्ध भगवान् जैसा सुख पा लेता है।" आचार्य ने यह उपमा नीरोगता की दृष्टि से कही है। सिद्ध भगवान् आध्यात्मिक दृष्टि से नीरोग हैं, तो साधारण संसारी जीव भौतिक दृष्टि से नीरोग होता है। नीरोग होने पर अनाकुलता होती है, और अनाकुलता ही वस्तुतः सच्चा सुख है।

जैन धर्म के एक और मर्मी सन्त, सुखों की गणना करते हुए कहते हैं कि—"पहला सुख नीरोगी काया।" रोग-रहित अवस्था पहला सुख माना गया है। ठीक भी है—जब आदमी बीमार होता है, तो उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। भोजन-पान, राग-रंग सब जहर मालूम होने लगते हैं। औषध-दान ही मनुष्य को यह पहला सुख प्रदान करता है। जब कोई रोगी किसी की औषध से अच्छा हो जाता है, तब वह कितना आशीर्वाद देता है ? यह आशीर्वाद ही मनुष्य को सुख-शान्ति देने वाला होता है।

३. ज्ञान दान

ज्ञान के बिना मनुष्य अन्धा होता है। यदि किसी अन्धे को आँखें मिल जाएँ, तो देखिये कितना आनन्दित होता है ? उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य को विद्या का दान देना, बहुत महत्त्वपूर्ण दान है। ज्ञान-दान की तुलना, चक्षु-दान से की गई है।

[प्रा]चीन काल में नालन्दा आदि विश्व-विद्यालय इसी भावना को लक्ष्य में रख कर स्थापित किए गए थे, जहाँ भारत के और भारत से बाहर श्याम, जावा, सुमात्रा, चीन, तुर्की, यूनान आदि विदेशों के हजारों विद्यार्थी बिना किसी भेद-भाव के ज्ञानार्जन करते थे। गरीब विद्यार्थियों के लिए पाठशाला खोलना, पाठशालाओं को दान देना, स्कॉलरशिप देना, पुस्तकें वगैरह देना, बोर्डिंग हाउस बनाना आदि सब विद्या-दान में शामिल होते हैं।

जैन धर्म ने इस क्षेत्र में भी बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। आचार्य अमितगति ने तो यहाँ तक कहा है कि—"धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों ही पुरुषार्थ विद्या के द्वारा सिद्ध होते हैं,

अत. विद्यादान देने वाला चारों ही पुरुषार्थ पाने का अधिकारी है।" भगवान् महावीर ने भी कहा है—"पढ़मं नाणं तओ दया।" अर्थात् "पहले ज्ञान है और बाद में दया, तप, परोपकार आदि सब आचरण हैं।"

४ अभय-दान

अभयदान का अर्थ है— किसी मरते हुए प्राणी को बचाना, किसी संकट में पड़े प्राणी का उद्धार करना। यह दान सर्वश्रेष्ठ दान समझा गया है। भगवान् महावीर के प्रथम उत्तराधिकारी श्री सुधर्मा स्वामी ने कहा है कि—दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं'— 'सब दानों में अभयदान श्रेष्ठ है।'

अभयदान जैन धर्म का तो प्राण है। जैन धर्म की बुनियाद ही अभयदान पर है। आचार्य अमितगति उपासकाचार में कहते हैं कि—' अभयदान पाकर प्राणी को जो सुख होता है; वह सुख संसार में न कभी हुआ, और न कभी होगा।"

दयालु मनुष्य भगवान् का स्थान प्राप्त कर लेता है। भगवान् महावीर ने भी भगवान् का पद अभयदान के द्वारा ही प्राप्त किया था। भगवान् ने न अपनी ओर से किसी को कष्ट दिया, और न किसी और से दिलवाया। इतना ही नहीं, यज्ञ आदि में मारे जाने वाले मूक पशुओं की रक्षा के लिए भी अपना समूचा जीवन लगा दिया। भारतवर्ष से अश्वमेध आदि हिंसक यज्ञों के अस्तित्व का लोप होने में भगवान् महावीर का वह अभयदान-सम्बन्धी महान् प्रयत्न ही मुख्य कारण था।

अतएव प्रत्येक जैन का कर्त्तव्य है कि वह जैसे भी बने, दुःखी जीवों की सहायता करे, मरते जीवों की रक्षा करे, भूख और प्यास से दम तोड़ते हुए जीवों की अन्न-जल द्वारा प्राण रक्षा करे। गौशाला एवं पिंजरापोल आदि के द्वारा मूक पशुओं की सेवा का

उचित प्रवन्ध करे, जीव दया के कार्यों में अधिक-से-अधिक अपने धन का उपयोग करे। आज के हिंसामय युग में दया की गंगा वहाने का आदर्श कार्य, यदि जैन नहीं करेंगे, तो कौन करेंगे ? जैन जहाँ भी हो, जिस स्थिति में भी हो, सर्वत्र अहिंसा और करुणा का वातावरण पैदा कर दे। सच्चा जैन वही है, जिसके स्नेह को पाकर विपद्-ग्रस्त के आँसू वहाते मुख पर भी एक वार तो प्रसन्नता का मधुर हास्य चमक उठे। जैन जहाँ भी हो, जीवन देने वाले के नाम से प्रसिद्ध हो।

दान का महान् फल

दान के ये चार प्रकार केवल वस्तु-स्थिति के निदर्शन के लिए हैं। दान धर्म की सीमा इतने में ही समाप्त नहीं है। जो भी कार्य दूसरे को सुख-सुविधा पहुंचाने वाला हो, वह सव दान के अन्तर्गत आ जाता है। भगवान् महावीर ने पुण्य की व्याख्या करते हुए वतलाया है कि अन्न, जल, वस्त्र आदि के दान से मनुष्य को स्वर्गादि सुख के देने वाले पुण्य की प्राप्ति होती है। जैनसाहित्य में दान की महिमा और उसका महान् फल वताने वाले हजारों उदाहरण भरे पड़े हैं। कयवन्ना सेठ, शालिभद्र, धन्ना सेठ आदि के कथानक तो वहुत ही प्रसिद्ध हैं। दान का यह विवेचन उन लोगों की आँखें खोलने के लिए है, जो यह कहते हैं कि—"जैन धर्म तो निष्क्रिय धर्म है। वह केवल अपने तप और त्याग की भावना में ही सीमित है। जन-कल्याण के लिए कोई क्रियात्मक उपदेश उसके पास नहीं है।" कोई भी विचारक देख सकता है कि यह दान का विस्तृत विवेचन जैन धर्म की सक्रियता सिद्ध करता है या निष्क्रियता ? जन-कल्याण के क्षेत्र में जैन धर्म ने जो विचार-धारा दान के रूप में संसार के समक्ष रखी है, वह वेजोड़ है।

सुपात्र और कुपात्र

दान का विवेचन एक प्रकार से समाप्त किया जा चुका है। फिर भी एक दो प्रश्न ऐसे हैं, जिन पर विचार कर लेना अतीव आवश्यक है। कुछ लोग कहते हैं कि दान-धर्म उत्तम धर्म है। परन्तु उसका अधिकारी केवल सुपात्र ही है। और वह सुपात्र और कोई नहीं, एक मात्र साधु ही है। अतएव साध के अतिरिक्त किसी गरीव, एवं दुःखी संसारी प्राणी को दान देना, अधर्म है, धर्म नहीं। संसारी जीव सब कुपात्र हैं। और कुपात्र का दान भव-भ्रमण का कारण है।

दान के सम्बन्ध में ऊपर का तर्क सर्वथा असंगत है। क्या सुपात्र एकमात्र साधु ही है, और कोई नहीं? क्या गृहस्थ में रह कर सदाचारपूर्वक जीवन विताने वाले सब लोग कुपात्र हैं? सुपात्र का सम्वन्ध एकमात्र साधु से ही लगाना, शास्त्र के अर्थ का अनर्थ करना है। कोई भी सदाचारी जीवन सुपात्र कहला सकता है। और फिर यह कहाँ का नियम है कि सुपात्र को ही दान देना, और किसी गरीव दीन-दुखी को नहीं? भगवान् महावीर ने तो जैनत्व का एक प्रमुख लक्षण यह भी माना है कि—**दुखी को देख कर मन में अनुकम्पा-भाव लाना और यथा-शक्य उसका दुःख दूर करने का प्रयत्न करना।**" यह ठीक है कि सुपात्र को दान देने का वहुत अधिक महत्त्व है। परन्तु जहाँ संकट-काल में किसी प्राणी को सहायता पहुंचाने का प्रश्न हो, वहाँ पात्र-अपात्र पर विचार करना, किस महान् धर्म का सिद्धान्त है? कम से कम जैन धर्म का हमें पता है, वहाँ तो यह अणु मात्र भी नहीं है। जैन-धर्म तो प्राणिमात्र के प्रति कल्याण की भावना को लेकर भूमण्डल पर आया है। वह मानव-हृदय में उठने वाली दया की लहर को किसी विशेष जाति, विशेष राष्ट्र,

विशेष पंथ, विशेष सम्प्रदाय अथवा विशेष व्यक्ति की संकुचित सीमा में बाँधना नहीं चाहता। जो गरीब भाई तुम्हारे सम्मुख आकर एक रोटी के टुकड़े की आशा प्रकट करे और अपना हाथ फैलाए, क्या वह गरीब कुपात्र है? क्या भू-मण्डल पर किसी दुःखी को किसी सुखी से कुछ पाने का अधिकार नहीं है? अभाव ने गरीब को जिस दुरवस्था में डाला है, क्या हम उसे उसी दुःस्थिति में सड़ने दें? क्या यह मानवता होगी? नहीं, कदापि नहीं। दीन-दुःखी को दान देना, सहयोग करना, कभी भी किसी तरह भी असंगत नहीं कहा जा सकता।

क्या गरीबी ईश्वरीय दण्ड है?

भूखे और गरीब प्राणियों को दान देने के विरोध में एक और तर्क है, जो विल्कुल ही अजीव है। कुछ दार्शनिक कहते हैं कि—"लंगड़े, लूले, दरिद्र, कुष्ठी आदि को दान नहीं देना चाहिए। क्यों? इसलिए कि वह परमेश्वर का कोप-भाजन है, ईश्वर उसे उसके पापों का दण्ड दे रहा है। अस्तु, उस पर दया लाकर सहायता पहुंचाना, एक प्रकार से भगवान् की दण्डव्यवस्था का विरोध करना है। ईश्वर जिसको पापी समझ कर सजा देता है, उसको अपनी प्राप्त सजा भुगतने देना ही उचित है।"

इन आवश्यकता से अधिक बुद्धिमानों ने मान लिया है कि ईश्वर सजा दे रहा है, और वह हमारे दान के द्वारा दखल देने से अप्रसन्न होगा। क्या दूर की सूझी है? ईश्वर मारता है तो तुम भी क्यों न मारो, बड़े अच्छे सपूत कहलाओगे? जैन-दर्शन कहता है कि प्रथम तो ईश्वर किसी को दण्ड देता है, यही सिद्धान्त ही मिथ्या है। ईश्वर वीतराग है, राग-द्वेष से सर्वथा परे है।

उसे ऐसी क्या पड़ी है कि व्यर्थ ही विचारे जीवों को सताता फिरे ? ईश्वर को दण्डदाता मानना, पीड़ित प्राणियों के प्रति अपनी सहानुभूति और कर्त्तव्य की उपेक्षा करना है।

दूसरी वात यह है कि यदि ईश्वर दण्ड दे रहा हो, तब भी हमें सहायता करनी चाहिए। जैन धर्म तो यदि साक्षात् ईश्वर भी सामने आकर रोके, तव भी किसी दुःखी की सहायता करने से नहीं रुक सकता। मनुष्य को अपने हृदय में से उठने वाली मानवता की आवाज को सुनना चाहिए, फिर ईश्वर भले ही कुछ कहता रहे। क्या इस प्रकार ईश्वर की उपासना का यही फल है कि संसार में कोई गरीव के आँसू पोंछने वाला भी न रहे। सर्वत्र हाहाकार और अत्याचार का ही राज्य रहे। नहीं, जैनधर्म ऐसा कभी नहीं होने देगा। वह दीन-वन्धु है, अपना कर्त्तव्य हर हालत में अदा करेगा।

* *
*

१३

कुछ मनुष्य जीने के लिए भोजन करते हैं और कुछ भोजन के लिए जीते हैं। पहली कोटि के मनुष्य विवेकी, विचारशील धर्मात्मा होते हैं। उनके भोजन में खाद्य वस्तु का व समय का विवेक रहता है।
दूसरी कोटि के मनुष्य पशु की तरह बिना किसी विचार व विवेक के अनर्गल खाते रहते हैं, दिन में भी और रात में भी। वे भोजन के अविवेक के कारण अनेक प्रकार के रोगों के शिकार हो जाते हैं और फिर उन्हें कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ता है।
प्रस्तुत निबन्ध में अमर्यादित एवं असामयिक भोजन से होने वाली अनेक हानियों का दिग्दर्शन कराया गया है।

भोजन का विवेक

जीवन के लिए भोजन आवश्यक है। बिना भोजन किए, मनुष्य का दुर्बल जीवन टिक नहीं सकता। आखिर, मनुष्य अन्न का कीड़ा जो ठहरा। परन्तु भोजन करने की भी एक सीमा है! जीवन के लिए भोजन है, न कि भोजन के लिए जीवन! खेद की बात है कि आज के युग में भोजन के लिए जीवन बन गया है। आज का मनुष्य भोजन पर मरता है। खाने-पीने के सम्बन्ध में प्राचीन नियम प्रायः सब भुला दिए गए हैं। जो कुछ भी अच्छा-बुरा सामने आता है, मनुष्य झटपट चट करना चाहता है। न मांस से घृणा है, न मद्य से

परहेज। न भक्ष्य का पता है, न अभक्ष्य का। धर्म की वात तो जाने दीजिए, आज तो भोजन व भोजन के स्वाद के फेर में पड़कर अपने स्वास्थ्य का भी ध्यान नहीं रखा जा रहा है।

आज का मनुष्य प्रातःकाल विस्तर से उठते ही खाने लगता है, और दिन-भर पशुओं की तरह चरता रहता है। घर पर खाता है, मित्रों के यहाँ खाता है, वाजार में खाता है। और तो क्या, दिन छिपते खाता है, रात को खाता है और विस्तर पर सोते-सोते भी दूध का गिलास पेट में उँडेल लेता है। पेट है, या कुछ और!

भोजन के कुछ नियम

भारत के प्राचीन शास्त्रकारों ने भोजन के सम्वन्ध में वड़े ही सुन्दर नियमों का विधान किया है। भोजन में शुद्धता, पवित्रता, स्वच्छता और स्वास्थ्य का ध्यान रखना चाहिए, स्वाद का नहीं। मांस और शराव आदि अभक्ष्य पदार्थों से सर्वथा घृणा रखनी चाहिए। और वह शुद्ध भोजन भी भूख लगने पर ही खाना चाहिए। भूख के विना भोजन का एक कौर भी पेट में डालना, अन्न का भक्षण नहीं, एक प्रकार से पाप का ही भक्षण करना है। भूख लगने पर भी दिन में दो-तीन वार से अधिक भोजन नहीं करना चाहिए; और रात में भोजन करना तो धर्म एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उचित नहीं है।

जैन-धर्म में रात्रि-भोजन के निषेध पर वहुत वल दिया गया है। प्राचीन काल में तो रात्रि-भोजन न करना, जैनत्व की पहचान के लिए एक विशिष्ट लक्षण था। रात्रि-भोजन करने में जैन धर्म ने हिंसा का दोष वतलाया है।

बहुत से इस प्रकार के छोटे-छोटे सूक्ष्म जीव होते हैं, जो दिन में सूर्य के प्रकाश में तो दृष्टि में आ सकते हैं; परन्तु रात्रि में तो वे कथमपि दृष्टिगोचर नहीं हो सकते। रात्रि में मनुष्य की आँखें निस्तेज हो जाती हैं। अतएव वे सूक्ष्म जीव भोजन में गिर कर जब दाँतों के नीचे पिस जाते हैं और अन्दर पेट में पहुँच जाते हैं; तो बड़ा ही अनर्थ करते हैं। जिस मनुष्य ने मांसाहार का त्याग किया है, वह कभी-कभी इस प्रकार मांसाहार के दोष से दूषित हो जाता है। बिचारे जीवों की व्यर्थ ही अज्ञानता से हिंसा होती है और अपना नियम भंग होता है। कितनी अधिक विचारने की बात है।

रात्रि भोजन का निषेध क्यों ?

आज के युग में कुछ मनचले लोग तर्क किया करते हैं कि "रात्रि में भोजन का निषेध सूक्ष्म जीवों को न देख सकने के कारण ही किया जाता है न ? अगर हम तेज बिजली जला लें और प्रकाश कर लें, फिर तो कोई हानि नहीं ?" बात यह है कि बिजली जला लेने से रात्रि भोजन के सम्भावित दोष तो दूर नहीं हो सकते। पहली बात तो यह है कि बिजली पर अनेक प्रकार के कीट पतंग मंडराते रहते हैं, वे उड़-उड़ कर तुम्हारे भोजन में भी गिर सकते हैं। बहुत से सूक्ष्म जीवों का तो पता भी नहीं चल पाता कि वे भोजन के साथ पेट में कब चले जाएँगे।

दूसरी बात यह है कि स्वास्थ्य के लिए भी रात्रिभोजन त्याज्य माना है। सूर्य के प्रकाश में जो ऊष्मा रहती है वह अन्न को पचाने में सहयोगी बनती है। दिन में खाने से भोजन और सोने के समय में अन्तर भी काफी रह जाता है, और इस प्रकार अन्न को ठीक तरह पचने का अवसर मिल जाता है। रात्रि में भोजन

करने वाले वहुत से लोगों की यही आदत हो गई है कि खाया और विस्तरे पर लेटे, इससे न पूरा अन्न हजम होता है और न उसका रस ही ठीक से बनता है। यही कारण है कि रात्रि में भोजन करने वालों को वदहजमी और कब्ज आदि की अनेक शिकायतें होती रहती हैं।

त्याग-धर्म का मूल सन्तोष में है। इस दृष्टि से भी दिन की अन्य सभी प्रवृत्तियों के साथ भोजन की प्रवृत्ति को भी समाप्त कर देना चाहिए, तथा सन्तोष के साथ रात्रि में पेट को पूर्ण विश्राम देना चाहिए। ऐसा करने से भली-भाँति निद्रा आती है, ब्रह्मचर्य-पालन में भी सहायता मिलती है, और सव प्रकार से आरोग्य की वृद्धि होती है। जैन-धर्म का यह नियम, पूर्णतया आध्यात्मिक और वैज्ञानिक दृष्टि को लिए हुए है। आयुर्वेद में भी रात्रि-भोजन को वल, बुद्धि और आयु का नाश करने वाला वतलाया है। रात्रि में हृदय और नाभि-कमल संकुचित हो जाते हैं, अतः भोजन का परिपाक अच्छी तरह नहीं हो पाता।

रात्रि भोजन से प्रत्यक्ष हानियां

धर्म-शास्त्र और वैद्यक-शास्त्र की गहराई में न जाकर, यदि हम साधारण तौर पर होने वाली रात्रि-भोजन की हानियों को देखें, तव भी वह सर्वथा अनुचित ठहरता है। भोजन में यदि चींटी खाने में आ जाए तो बुद्धि का नाश होता है, जूं खाई जाए तो जलोदर नामक भयंकर रोग हो जाता है, मक्खी पेट में चली जाए तो वमन हो जाता है, छिपकली खा ली जाए तो कोढ़ हो जाता है, शाक आदि में मिलकर बिच्छू पेट में चला जाए तो वह तालू वेध डालता है, वाल गले में

चिपक जाए तो स्वरभंग हो जाता है; इत्यादि अनेक दोष रात्रि-भोजन में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं।

रात्रि का भोजन, वास्तव में ही खतरनाक है। एक दो नहीं, हजारों ही दुर्घटनाएँ, देश में रात्रि-भोजन के कारण होती हैं। सैकड़ों ही लोग अपने जीवन तक से हाथ धो बैठते हैं।

अतः रात्रि-भोजन सब प्रकार से त्याज्य है। जैन-धर्म में तो इसका बहुत ही प्रबल निषेध किया गया है। अन्य धर्मों में भी इसे आदर की दृष्टि से नहीं देखा गया है। कूर्म-पुराण आदि वैदिक पुराणों में भी रात्रि-भोजन का निषेध है। महात्मा गांधी ने जीवन के अन्तिम चालीस वर्षों में 'रात्रि-भोजन त्याग' को बड़ी दृढ़ता के साथ निभाया था। यूरोप गए तब भी उन्होंने रात्रि-भोजन नहीं किया। प्रत्येक जैन का कर्तव्य है कि रात्रि-भोजन का त्याग करे, न रात्रि में भोजन बनाए और न खाए।

* *
*

मांसाहार से मन में क्रूरता, उन्माद, उत्तेजना और विकार बढ़ते हैं। विकार-ग्रस्त मनुष्य समाज में अशान्ति और संघर्ष का वातावरण पैदा करता है। व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन की शांति के लिए यह आवश्यक है कि मन सात्त्विक भावनाओं से अनुप्राणित रहे। 'जैसा खाये अन्न वैसा होवे मन' इस लोकोक्ति के अनुसार सर्वप्रथम आहार शुद्धि पर ध्यान देना आवश्यक है।

१४

मांसाहार का निषेध

संसार में एक-से-एक भयंकर पाप हमारे सामने हैं। परन्तु मांसाहार का पाप बड़ा ही भयंकर तथा निन्दनीय है। मांसाहार मनुष्य के हृदय की कोमल भावनाओं को नष्ट-भ्रष्ट कर उसे पूर्णतया निर्दय और कठोर बना देता है। मांस किसी खेत में नहीं पैदा होता, वृक्षों पर नहीं लगता, आकाश से नहीं बरसता; वह तो चलते-फिरते प्राणियों को मारकर उनके शरीर से प्राप्त होता है। जब आदमी पैर में लगे एक कांटे का दर्द भी सहन नहीं कर सकता; दर्द के कारण रात-भर छटपटाता रहता है; तब भला दूसरे निरपराध मूक जीवों की गर्दन पर छूरी चला देना, किस प्रकार न्याय-संगत हो सकता है? जरा शान्त चित्त से ईमानदारी के साथ विचार कीजिए कि उनको कितना भयंकर दर्द होता होगा? अपने क्षणिक जिह्वा के स्वाद के लिए दूसरे मूक जीवों को मौत के घाट उतार देना, कितना

जघन्य आचरण है ! जब आदमी किसी को जीवन नहीं दे सकता तो उसे क्या अधिकार है कि वह दूसरे का जीवन छीन ले।

आहार-विहार में होने वाली साधारण-जीवों की हिंसा भी जब निन्दनीय मानी जाती है, तब बराबर के साथी उपयोगी पशुओं की हत्या करना तो और भी भयंकर बात है। वधिक जब चमचमाता हुआ छुरा लेकर मूक पशुओं की गर्दन पर फेरता है, उस समय का वह दृश्य कितना भयंकर होता होगा ? सहृदय मनुष्य तो उस राक्षसी दृश्य को अपनी आँखों से देख भी नहीं सकता। खून की धारा बह रही हो, मांस का ढेर लग रहा हो, हड्डियाँ इधर-उधर बिखर रही हों, रक्त से सने हुए चमड़े के खण्ड इधर-उधर बिखरे पड़े हों, और ऊपर से गीध, चील आदि निन्द्य पक्षी मँडरा रहे हों; तो स्पष्ट है कि इस घृणित दशा में, मनुष्य नहीं, राक्षस ही काम कर सकता है। यही कारण है कि यूरोप आदि देशों में तो प्रतिष्ठित न्यायाधीश कसाई की गवाही भी नहीं लेते हैं। उनकी दृष्टि में कसाई इतना निर्दय हो जाता है कि वह मनुष्य ही नहीं रह पाता। हृदयहीन निर्दय मनुष्य में मनुष्यता एवं तदनुकूल प्रामाणिकता रह भी कहाँ सकती है ?

जैन-धर्म में मांसाहार का बड़ी ही दृढ़ता के साथ निषेध किया गया है। करुणा के प्रत्यक्ष अवतार भगवान् महावीर ने मांसाहार को दुर्व्यसनों में माना है और इसे नरक का कारण बताया है। स्थानांग-सूत्र के चौथे स्थान में बताया है कि "चार कारण से प्राणी नरक में जाता है"—(१) महाआरम्भ करने से, (२) महापरिग्रह रखने से, (३) पंचेन्द्रिय जीवों का वध करने से, (४) और मांस भक्षण करने से।

एक आचार्य ने तो मांस शब्द की व्युत्पत्ति ही वड़ी हृदय-
पर्शी ढंग से की है। मांस शब्द में दो अक्षर हैं, 'मां' और 'स'।
मां' का अर्थ 'मुझको' होता है, और 'स' का अर्थ 'वह' होता है।
ोनों अक्षरों का मिलकर यह गूढ़ार्थ निकलता है कि **'जिसको मैं
हाँ मारकर खाता हूं, वह मुझे भी कभी मारकर खाएगा।'** मांसाहारी
ोग इस अर्थ का गम्भीरता के साथ विचार करें और मांसाहार
ी दुर्वृत्ति को त्याग कर अपने को भावी कष्टों से वचाएँ।

आजकल कुछ लोग तर्क करते हैं कि "मनुष्य अन्न खाता
है, गेहूँ आदि के हजारों दाने पीस कर पेट में डाल लेता है,
्या इसमें हिंसा नहीं होती? वकरे आदि के मारने में तो एक
ीव की हिंसा होती है, परन्तु अन्न खाने में तो हजारों जीवों
ी हिंसा हो जाती है।" उत्तर में कहना है कि—'गेहूं आदि की
ुनियाद आवी और वकरे की वुनियाद पेशावी है। गेहूं अव्यक्त
ेतना वाला जीव है और वकरा व्यक्त चेतना वाला। वकरे
ो मारने वाले के भाव प्रत्यक्षतः क्रूर, निर्दय और घातकी
ोते हैं; जवकि गेहूं खाने वाले के ऐसे नहीं होते। अस्तु, वकरे
की अन्न के दानों से तुलना करना, अज्ञानता का ही नहीं, मन
की क्रूरता का भी परिचायक है। मांस जैसी अपवित्र, घृणित,
तामसी चीज की सात्विक अन्न से तुलना कभी हो ही नहीं
सकती।

मांस खाना मानव-प्रकृति के भी सर्वथा विरुद्ध है। मनुष्य
प्रकृति से शाकहारी प्राणी है, मांसाहारी नहीं। शाकाहारी
और मांसाहारी प्राणियों की वनावट में भारी अन्तर होता है।
मांसाहारी पशुओं के नाखून पैने, नुकीले होते हैं, जैसे कुत्ता,
विल्ली, सिंह आदि के। और शाकाहारी पशुओं के पैने नहीं होते,
जैसे हाथी, गाय, भैंस आदि के। मांसाहारी पशुओं के जवड़े

लम्बे होते हैं, जबकि शाकाहारियों के गोल। गाय और कुत्ते के जबड़ों को देखने से यह भेद साफ मालूम हो जाएगा। मांसाहारी जीव पानी जीभ से चपल-चपल कर पीते हैं, और शाकाहारी ओंठ टेक कर। गाय, भैंस, बन्दर आदि तथा इनके विपरीत सिंह, बिल्ली, कुत्ता आदि को देखने से यह सब भेद स्पष्ट हो जाता है। आज के विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि बन्दर तथा लंगूर एकदम शाकाहारी प्राणी है। जीवन-भर ये फल-फूल आदि पर गुजारा करते हैं। मनुष्य की आन्तरिक तथा बाह्य बनावट भी हूबहू बन्दर तथा लंगूर से मिलती-जुलती है। अतः मनुष्य भी नितान्त शाकाहारी प्राणी है। मांसाहार की आदत उसने बाह्य विकृति से प्राप्त करली है, वह उसकी मूल प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ती।

आर्थिक दृष्टि से भी मांसाहार देश के लिए घातक ठहरता है। गाय, भैंस, बकरी आदि देश के लिए बड़े ही उपयोगी पशु हैं। मांसाहारियों द्वारा इनका संहार करना कितना भयंकर है, जरा ध्यान से देखने योग्य है।

उदाहरण के लिए गाय को ही ले लीजिए। अर्थशास्त्रियों ने हिसाब लगाया है कि गाय से हमें दूध, दही, घी, बैल, गोबर आदि मिलते हैं। एक गाय की पूरी पीढ़ी से चार लाख, बहत्तर हजार, छः सौ मनुष्यों को सुख पहुँचता है। जीव-विज्ञान-विशारदों ने गहरी छानबीन के पश्चात् हिसाब लगाया है कि गोवंश में से प्रत्येक गाय के दूध का मध्यमान ग्यारह सेर का आता है। उसके दूध देने के समय का औसत बारह महीने रहता है। अस्तु, प्रत्येक गाय के जन्म भर के दूध से २४९६० (चौबीस हजार, नौ सौ साठ) मनुष्यों की एक बार में तृप्ति होती है। मध्यमान के नियमानुसार प्रत्येक गाय से छह बछिया और छह बछड़े मिल पाते हैं। इनमें से यदि एक एक मर भी जाए तो, पाँच बछियों

के जीवन-भर के दूध से १२४८०० (एक लाख, चौवीस हजार, आठ सौ) मनुष्य एक वार तृप्त हो सकते हैं। अव रहे पाँच बैल। अपने जीवन-काल में, मध्य मान के अनुसार; कम-से-कम ५००० (पाँच हज़ार) मन अनाज पैदा कर सकते हैं। यदि प्रत्येक आदमी एक वार में तीन पाव अनाज खाए तो उससे साधारणतया ढाई लाख आदमियों की एक वार में उदर-पूर्ति हो सकती है। वछियाओं के दूध और बैलों के अन्न को मिला देने से ३७४८०० (तीन लाख, चौहत्तर हजार, आठ सौ) मनुष्यों की भूख एक वार में बुझ सकती है। दोनों संख्याओं को मिलाकर एक गाय की पीढ़ी में ४,७५,६,९० (चार लाख, पचहत्तर हजार, छः सौ, नव्वै) मनुष्य एक वार में पालित हो जाते हैं।

इतना ही नही, बैलों से गाड़ियाँ चलती हैं। उनसे सवारी का काम लिया जाता है, भार उठाने के काम में भी वे आते हैं। यही कारण है कि भारतीय लोगों ने गाय को 'माता' कह कर पुकारा है।

इसी प्रकार एक वकरी के जन्म भर के दूध से भी २५,९,२० (पच्चीस हजार, नौ सौ, वीस) आदमियों का परिपालन एक वार हो सकता है। हाथी, घोड़े, ऊँट, भेड़ आदि प्राणियों से भी इसी प्रकार अनेकों उपकार मनुष्य के लिए होते रहते हैं। अतएव इन उपकारी पशुओं को जो लोग खुद मारने तथा दूसरों से मरवाने का काम करते हैं, उनको परोक्ष रूप में सारे मानव-समाज की हत्या करने वाला ही समझना चाहिए।

स्वास्थ्य की दृष्टि से भी मांस निषिद्ध वस्तु है। प्रायः मांसाहार से कैंसर, क्षय, पायोरिया, गठिया, सिर-दर्द, मृगी, उन्माद, अनिद्रा, लकवा, पथरी आदि भयंकर रोगों का आक्रमण होता है। शारीरिक वल और मानसिक-प्रतिभा पर भी बुरा

प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में यूरोप के ब्रुसेल्स विश्वविद्यालय आदि में जो वैज्ञानिक परीक्षण हुए हैं, उनसे भी मांसाहारियों की अपेक्षा शाकाहारी ही श्रेष्ठ प्रमाणित हुए हैं।

कहा जाता है—दश हजार विद्यार्थी उपर्युक्त परीक्षण में सम्मिलित हुए थे। इनमें पाँच हजार को केवल फल, दूध, अन्न आदि शाकाहार पर और पाँच हजार को मांसाहार पर रखा गया था। छह महीने बाद जाँच करने पर मालूम हुआ कि मांसाहारियों की अपेक्षा शाकाहारी सब बातों में तेज रहे। शाकाहारियों में दया, क्षमा, प्रेम आदि गुण प्रकट हुए और मांसाहारियों में क्रोध, क्रूरता, भीरुता आदि। मांसाहारियों से शाकाहारियों में बल, सहन-शक्ति आदि गुण भी विशेष रूप में पाए गए। शाकाहारियों में मानसिक शक्ति का विकास भी अच्छा हुआ।

किं बहुना, धार्मिक, सामाजिक आर्थिक, और स्वास्थ्य आदि सभी दृष्टियों से मांसाहार सर्वथा हेय है। जो मनुष्य, मनुष्य कहलाने का अधिकारी है, उसे तो मांसभक्षण का सदा के लिए त्याग कर देना चाहिए।

* *
*

१५

साधुजीवन एक महान् आदर्श जीवन है। उसकी उत्कृष्ट साधना, अध्यात्म की एक महान् आदर्श साधना है।

प्रस्तुत अध्याय में साधु की आदर्श साधना का एक अति सुन्दर रेखा चित्र उपस्थित है।

आदर्श साधु

आत्म-शान्ति और आत्म-सिद्धि की शोध में,
ज्ञान का उज्ज्वल प्रकाशमान प्रदीप लेकर
आत्मा से परमात्मा बनने के पथ पर
अग्रसर हुए पूज्य साधु !
दुनिया की ऋद्धि को त्यागकर
आत्म-सिद्धि के अमर साधक !
आपको वन्दन हो ! कोटि-कोटि वन्दन हो !

* * *

संसार के क्षेत्र में,
संस्कारी वातावरण का सर्जन कर
साधना के शिखर पर
जो वेगवती गति से बढ़ रहा है,
वही है सच्चा साधु !

* * *

परम तत्त्व की खोज में
ज्ञान और क्रिया का अवलंबन लेकर

जो आत्मा की पूर्ण शक्ति से सतत गतिमान् रहता है,
वही सच्चा साधु !

* * *

साधु अर्थात् समभाव का साधक,
जिसकी साधना का अन्तिम फल 'सिद्धत्व' हो,
वही आदर्श साधु !

* * *

आत्म-दर्शन,
जिसके जीवन का नित्य रटन हो;
रत्नत्रय का सदाचरण,
जिसका सच्चा साधन हो;
आत्म-स्वरूप में,
जिसका प्रतिदिन रमण हो !
और विकार-मुक्ति ही
जिसकी जीवन-यात्रा का अन्तिम विश्राम केन्द्र हो;
वही आदर्श साधु !

* * *

आदर्श साधु,
क्षमा की जीवित मूर्ति हो !
उसके शान्त हृदय में
क्रोध की कभी एक क्षीण रेखा भी न उभरे !
चारों ओर शांति एवं सहज सरलता झलके !
क्षमा के शान्ति-मन्त्र पढ़कर
जो जगत् में से कलह और क्षोभ की व्याधि हरने वाला
महान् धन्वन्तरि बने,
और जिसके सत्संग में
आत्मतत्त्व के शोध की बलवती क्षुधा जागृत हो,

वही आदर्श साधु !

* * *

सुन्दर अप्सरा हो अथवा कुरूप कुब्जा,
दोनों ही जिसकी दृष्टि में केवल काठ की पुतली हैं !
कंचन और कामिनी का सच्चा त्यागी
लोभ और मोह के विषाक्त बाण से बिंधे नहीं !
सम्राटों का भी सम्राट्
और चक्रवर्तियों का भी चक्रवर्ती,
अन्तर्जीवन की विपुल अध्यात्म-समृद्धि के
अक्षय कोष का एकमात्र स्वतन्त्र स्वामी,
वही आदर्श साधु !

* * *

पाप के फल से नहीं,
किन्तु पाप की वृत्ति से ही मुक्ति चाहता है !
दुरंगी दुनिया के मोहक शब्दों की अपेक्षा
आत्मा की अन्तर्ध्वनि को वहुमान देकर चलता है !
अपने सवल और स्वतन्त्र विचारों से
नयायुग, नया वातावरण प्रगटाता है !
अपने सरल, श्रद्धामय और निष्पाप जीवन से
मानव-समाज को जीवन का सच्चा मर्म वताता है !
वही आदर्श साधु !

* * *

संकट के क्षणों में, जो भागता नहीं है,
किन्तु संकटों का शोधन करता है !
आध्यात्मिक शक्ति के वल से
संकटों पर आधिपत्य स्थापित करता है !
जगत् के विष को शान्तिपूर्वक पीकर वदले में

प्रसन्न मुखमुद्रा से अमृत की वृष्टि करता है !
'शठं[१] प्रति शाठ्यं कुर्यात्' के स्थान पर
'शठं[२] प्रति भद्रं कुर्यात्' का मुद्रा लेख लेकर
पत्थर फेंकने वाले पर भी पुष्प वृष्टि करता है !
गाली देने वाले को भी आशीर्वाद देता है !
अपकार का बदला उपकार से देकर
अपनी पूर्ण दिव्यता का दर्शन कराता है !
वही आदर्श साधु !

* * *

जिसकी हिंसात्मक अमृत दृष्टि जंगल में भी मंगल करे,
जहर को भी अमृत में बदल दे,
शत्रु को भी मित्र बनाले,
वही आदर्श साधु !

* * *

पापी को नहीं,
किन्तु जो पापमय मनोदशा को धिक्कारता है;
जिसके धिक्कार में भी प्रेम हो;
जिसके धिक्कार में से भी स्नेहरस झरता हो;
जिसके स्नेह की शीतल धारा.
द्वेष के धधकते दावानल को भी बुझा दे,
जिसके प्रेम का जादू
पापी के कठोरतम अन्तर को भी पिघला दे;
वही आदर्श साधु !

---

१ दुर्जन के प्रति दुर्जनता ।
२ दुर्जन के प्रति भी सज्जनता ।

*

१६

धर्म परम्परा का महत्व उसकी तेजस्विता में होता है, न कि प्राचीनता में। किन्तु यदि उसकी तेजस्विता सुदीर्घ इतिहास के आधार पर खड़ी है तो वह और भी ज्यादा प्रभावशाली हो जाती है; जैसे कि सोने में सुगन्ध!

जैन धर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध में जनसाधारण में कुछ भ्रान्त धारणाएँ व अज्ञानमूलक विचार चलते रहे हैं, आइए, इतिहास के प्रकाश में उनका निराकरण करलें।

जैन धर्म की प्राचीनता

कितने ही जिज्ञासु प्रश्न करते हैं कि जैन धर्म का आविर्भाव कब हुआ? जैन धर्म एक नया ही धर्म है, या प्राचीन? वह किसी अन्य धर्म की शाखा है या एक स्वतन्त्र सनातन धर्म है?

इतिहास की इस पहेली को सैकड़ों विद्वान् सुलझाने में लगे हुए हैं। अब तक अनेक प्रामाणिक तथ्य प्रकाश में आये हैं जिनसे बहुत सी भ्रान्तियों का निराकरण हो गया है, और हो रहा है।

कुछ समय पहले तक अनेक विदेशी विद्वान् और स्वामी दयानन्द जैसे कुछ भारतीय विद्वान् भी जैन धर्म को बौद्ध धर्म की एक शाखा समझते रहे हैं। उनका कहना था कि बौद्ध धर्म से ही जैन धर्म की शाखा निकली है।

किन्तु इतिहास के प्रकाश में आज ये विचार एक गलत फहमी के सिवाय और कुछ नहीं रहे हैं।

कुछ विद्वान् जैन धर्म को एक स्वतन्त्र धर्म अवश्य मानते रहे हैं, किन्तु उनके विचार में इसके संस्थापक भगवान् महावीर स्वामी थे, इसलिए ढाई हजार वर्ष से आगे इसका इतिहास नहीं जाता।

कुछ अन्य विद्वान् तेईसवें तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ के काल तक जाते हैं, और उन्हें ही जैन धर्म का प्रवर्तक मानते हैं।

हम प्रस्तुत लेख में ऐतिहासिक खोजों के आधार पर इन सव भ्रान्तधारणाओं का निराकरण करके वास्तविक तथ्य समझाने की चेष्टा करेंगे।

जैन धर्म, बौद्ध धर्म की शाखा नहीं है

जैन धर्म को वौद्ध धर्म की शाखा कहना तो इतिहास की सवसे वड़ी अज्ञानता है। वौद्ध साहित्य का अध्ययन करने से यह वात भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है कि तथागत वुद्ध के समय में जैनधर्म की परम्परा वहुत ही गौरवशाली मानी जाती थी। वुद्ध ने स्वयं स्थान-स्थान पर भगवान् महावीर को 'निग्गंठ नाथपुत्त' (निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र) के नाम से सम्वोधित किया है।

दूसरी वात भगवान् पार्श्वनाथ जैन धर्म के तेईसवें तीर्थङ्कर हो गए हैं। उनके आचार-विचार का वुद्ध के जीवन तथा धर्म पर काफी प्रभाव पड़ा दिखाई देता है। पार्श्वनाथ के चातुर्याम संवर धर्म का वुद्ध ने अपने मुख से कई स्थानों पर[1] उल्लेख

---

१ मज्झिम निकाय, पृ० २२५

किया है। जैन साहित्य के अनेक पारिभाषिक शब्द—जैसे जिन, श्रावक, भिक्षु (भिक्खु) निर्वाण आदि बौद्ध साहित्य में ज्यों के त्यों प्राय: उन्हीं अर्थों में ले लिये गये हैं। इससे स्पष्ट होता है कि बुद्ध के समक्ष जैन परम्परा विद्यमान थी और उसका तत्कालीन राजवंशों पर एवं जनता पर अच्छा प्रभाव था।

इससे यह शंका भी निर्मूल हो जाती है कि जैनधर्म के संस्थापक भगवान् महावीर थे, चूंकि भगवान् महावीर से ढाई सौ वर्ष पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ हो गये हैं, और उनके चातुर्याम धर्म को मानने वाले अनेक राजवंश भगवान् महावीर से पहले ही विद्यमान थे।[1]

भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता में आज इतने प्रचुर प्रमाण मिल रहे हैं कि जैन धर्म को आधुनिक कहने वाली पुरानी मान्यताएँ अब खण्डित हो गई हैं।

वैदिक परम्परा में जन इतिहास के मूल स्वर

जैन परम्परा के बाईसवें तीर्थङ्कर भगवान् नेमिनाथ, जो वासुदेव श्रीकृष्ण के भाई (ताऊ के लड़के) भी थे और फिर धर्मगुरु भी रहे, उनके सम्बन्ध में आज अनेक विद्वान्, छान्दोग्य उपनिषद् (प्रपाठक ३ खण्ड १७) आदि के अनुसार यह मान चुके हैं कि भगवान् नेमिनाथ के द्वारा ही श्रीकृष्ण को अहिंसा का उपदेश मिला था। मथुरा से प्राप्त होने वाली भगवान् नेमिनाथ की मूर्तियों में भी श्रीकृष्ण और बलराम का अंकन दोनों ओर पाया गया है, इसे सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् विद्वान् स्व० डा० वासुदेव शरण अग्रवाल मान चुके हैं।[2] इसके अतिरिक्त भगवान् नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) का नाम यजुर्वेद में भी आता है।

---

१ प्रो० याकोबी, 'सेक्रेट बुक्स आफ दि इस्ट' जि० ४५ की प्रस्तावना पृ० २१।

२ जैन साहित्य का इतिहास (कैलाशचन्द्र शास्त्री), प्राक्कथन पृ० ९

भगवान् नेमिनाथ के सम्वन्ध में यजुर्वेद का वह मंत्र य
पर उद्धृत करते हैं—

वाजस्यनु प्रसव आवभूवे मा च
विश्वा भुवनानि सर्वतः।
स नेमि राजा परियाति विद्वान्
प्रजां पुष्टिं वर्द्धमानो अस्मै स्वाहा॥

—(वाजसनेयि-माध्यंदिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता, अध्याय
मंत्र २५)[१]

—"अध्यात्म यज्ञ को प्रगट करने वाले, संसार के सव जीव
को सव प्रकार से यथार्थ उपदेश देने वाले और जिनके उपदेश
जीवों की आत्मा वलवान् होती है, उन सर्वज्ञ नेमिनाथ के लि
आहुति समर्पित है।"

भगवान् ऋषभदेव वर्तमान काल चक्र के प्रथम तीर्थङ्क
हैं। एक दृष्टि से यह माना जा सकता है कि इस कालचक्र
जैन धर्म के आदिकर्ता भगवान् ऋषभ देव हुए हैं। ऋषभदेव
वड़े पुत्र भरत थे, जो इस युग के प्रथम चक्रवर्ती थे और उन्हीं
के नाम पर श्रीमद् भागवत (५।४) के उल्लेखानुसार इस देश क
नाम भारतवर्ष हुआ। इस सम्वन्ध में हम अधिक विस्तार नहीं
करके कुछ विद्वानों के विचार यहाँ प्रस्तुत कर देते हैं।

विश्व के महान् दार्शनिक राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् अपने
'भारतीय दर्शन का इतिहास' नामक महान् ग्रन्थ में लिखते हैं कि-
जैन परम्परा ऋषभदेव से अपनी उत्पत्ति का कथन करती है, जो
वहुत सी शताब्दियों पूर्व हुए हैं। इस वात के प्रमाण पाये जाते

यजुर्वेद सातवलेकर संस्करण (विक्रम १९८४)

हूं कि ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभ देव की पूजा होती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जैन धर्म वर्धमान और पार्श्वनाथ से भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेद में ऋषभ देव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थङ्करों के नाम आते हैं। भागवत पुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभ देव जैन धर्म के संस्थापक थे।'[1]

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री जयचन्द्र विद्यालंकार जैन धर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध में अपने विचार लिखते हैं कि [2]"जैन धर्म बहुत प्राचीन है, और महावीर से पहले २३ तीर्थङ्कर हो चुके थे, जो उस धर्म के प्रवर्तक एवं प्रचारक थे। सबसे पहला तीर्थङ्कर राजा ऋषभ देव था जिसके एक पुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम भारत वर्ष हुआ।"

भगवान् ऋषभ देव की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में विद्वानों ने जो मत व्यक्त किये हैं वे भारतीय धर्म ग्रन्थों एवं सांस्कृतिक परम्परा के गम्भीर अध्ययन पर आधारित हैं। ऋगवेद के अनेक मन्त्रों में भगवान् ऋषभ देव की प्रार्थना-स्तुति मिलती है।

ऋगवेद का एक मन्त्र देखिए—

"एवा बभ्रो वृषभ, चेकितान यथा देव न हृणीषे न हंसि।"

—ऋगवेद २-३३-१५[3] (रूद्रसूक्त)

हे वृषभ! ऐसी कृपा करो कि हम कभी नष्ट न हों।

---

१ भारतीय दर्शन का इतिहास (जि० १ पृ० २८७)
२ भारतीय इतिहास की रूपरेखा (पृ० ३४७)
३ ऋगवेद सातवलेकर संस्करण (सन् १९४०)

भारतीय साहित्य और संस्कृति का महान् ग्रन्थ योग वाशिष्ठ में श्री रामचन्द्र जी अपनी परम इच्छा व्यक्त करते हुए कहते हैं कि मुझे किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं है, मैं तो जिन (वीतराग) की तरह अपने आप में शान्ति-लाभ प्राप्त करना चाहता हूँ—

[1]नाहं रामो न मे वांच्छा भावेषु न च मे मनः।
शान्त आसितुमिच्छामि स्वात्मनीव जिनो यथा॥

योग वाशिष्ठ (वैराग्य प्रकरण १५।७)

इस उद्धरण से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी के समय से भी पहले जैन तीर्थङ्करों के पवित्र जीवन की छाप भारतीय जनमानस पर अंकित थी। इतिहासकारों की धारणा के अनुसार रामचन्द्र जी को हुए ग्यारह लाख वर्ष होगए।

पुराण साहित्य में भी स्थान-स्थान पर जैन तीर्थङ्करों के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के उल्लेख मिलते हैं।

इन उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि वैदिक संस्कृति की तरह जैन संस्कृति भी अत्यन्त प्राचीन है, एवं उसका अन्य संस्कृति तथा धर्मों पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहा है।

अनुसन्धान के आलोक में

धर्म ग्रन्थों के आधार के साथ ही आज प्राचीन स्थलों की खुदाइयों में भी ऐसे चिह्न प्राप्त हो रहे हैं जिनसे जैन धर्म का मूल शैव धर्म की तरह ताम्रयुगीन सिन्धुसभ्यता तक जा रहा है। हम अनुसन्धान के आलोक में उन तथ्यों को भी समझाने का प्रयत्न करेंगे।

---

१ निर्णयसागर प्रेस बम्बई से मुद्रित (सन् १९१८)

कुछ समय पूर्व मोहनजोदड़ो की खुदाई में एक ऐसी प्राचीन मूर्ति प्राप्त हुई है जो कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित है। इस सम्बन्ध में पुरातत्त्व के प्रख्यात विद्वान श्री रामाप्रसाद चन्दा लिखते हैं—"सिन्धुघाटी से प्राप्त मोहरों पर वैठी अवस्था में अंकित देवताओं की मूर्तियाँ ही योग की मुद्रा में नहीं हैं, किन्तु खड़ी अवस्था में अंकित मूर्तियां भी योग की कायोत्सर्ग मुद्रा को वतलाती हैं, जिसका निर्देश ऊपर किया गया है। मथुरा म्यूजिम में दूसरी शती की कायोत्सर्ग में स्थित एक 'वृषभदेव जिन' की मूर्ति है। इस मूर्ति की शैली से सिन्धु से प्राप्त मोहरों पर अंकित खड़ी हुई देवमूर्तियों की शैली विल्कुल मिलती है।"[१]

श्री चन्दा के लेख पर टिप्पणी करते हुए पुरातत्त्व के अधिकारी विद्वान डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखा है कि—"यह मुद्रा जैन योगियों की तपश्चर्या में विशेष रूप से मिलती है, जैसे मथुरा संग्रहालय में स्थापित तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव की मूर्ति....यदि ऐसा हो तो शैव धर्म की तरह जैन धर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु-सभ्यता तक चला जाता है। इससे सिन्धु सभ्यता एवं ऐतिहासिक भारतीय सभ्यता के वीच की खोई हुई कड़ी का भी एक उभय-साधारण सांस्कृतिक परम्परा के रूप में कुछ उद्धार हो जाता है।"[२]

उपर्युक्त अनुसन्धानों के आधार पर यह वात स्पष्ट हो जाती है कि जैन धर्म का मूल कितना प्राचीन है। भारत की आदि सभ्यता (सिन्धुघाटी सभ्यता) के साथ जव विद्वान लोग

---

१ मार्डर्न रिव्यु, जून १९३२ श्री आर० पी० चन्दा का लेख

२ हिन्दू सभ्यता पृ० २३-२४

उसकी परम्परा को जोड़ते हैं तो इसका मतलब हुआ कि वह महावीर, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ और अन्य तीर्थङ्करों की परम्परा को पार करती हुई भगवान् ऋषभ देव की परम्परा के साथ जुड़ जाती है। उक्त उल्लेखों के आधार पर, लेख के प्रारम्भ में उठाई गई यह शंका अपने आप मिट जाती है कि जैन धर्म का आविर्भाव कब से हुआ? इसकी प्राचीनता कितनी है?

१७
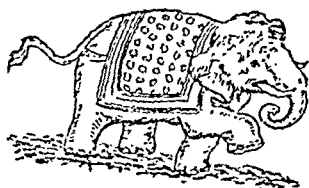
वही आदर्श जीवन है, और वही सच्चा जैन जीवन है, जिसके कण-कण और क्षण-क्षण में धर्म की साधना झलकती हो। धर्ममय जीवन के आदर्शों का यह भव्य चित्र प्रस्तुत है—'जैन-जीवन' में।

जैन-जीवन

जैन भूख से कम खाता है।
जैन बहुत कम बोलता है।
जैन व्यर्थ नहीं हँसता है।
जैन बड़ों की आज्ञा मानता है
जैन सदा उद्यमशील रहता है।

* *

जैन गरीबी से नहीं शर्माता।
जैन धन पर नहीं अकड़ता।
जैन किसी पर नहीं झुंझलाता।
जैन किसी से छल कपट नहीं करता।
जैन सत्य के समर्थन में किसी से नहीं डरता।

* *

जैन हृदय से उदार होता है।
जैन हित-मित-मधुर बोलता है।
जैन संकट सहता हुआ भी हँसता है।
जैन अभ्युदय में भी नम्र रहता है।

* *

अज्ञानी को जीवन-निर्माणार्थ ज्ञान देना मानवता है।
ज्ञान के साधन विद्यालय आदि खोलना मानवता है।

* *

भूखे-प्यासे को सन्तुष्ट करना मानवता है।
भूले हुए को मार्ग बताना मानवता है।
'जैन' मानवता का सच्चा प्रतीक है।

* *

जहाँ विवेक होता है, वहाँ प्रमाद नहीं होता।
जहाँ विवेक होता है, वहाँ लोभ नहीं होता।
जहाँ विवेक होता है, वहाँ स्वार्थ नहीं होता।
जहाँ विवेक होता है, वहाँ अज्ञान नहीं होता।
जैन विवेक का आराधक होता है।

* *

प्रतिदिन विचार करो कि मन से क्या-क्या दोष हुए हैं?
प्रतिदिन विचार करो कि, वचन से क्या-क्या दोष हुए हैं?
प्रतिदिन विचार करो कि, शरीर से क्या-क्या दोष हुए हैं

* *

सुख का मूल धर्म है।
धर्म का मूल दया है।
दया का मूल विवेक है।

* *

विवेक से उठो।
विवेक से चलो।
विवेक से बोलो।
विवेक से खाओ।
विवेक से सब काम करो।

* *

पहनने-ओढ़ने में मर्यादा रखो।
घूमने-फिरने में मर्यादा रखो।
सोने-बैठने में मर्यादा रखो।
बड़े-छोटे की मर्यादा रखो।

* *

मन से दूसरे का भला चाहना, परोपकार है।
वचन से दूसरे को हित-शिक्षा देना, परोपकार है।
शरीर से दूसरे की सहायता करना, परोपकार है।
धन से किसी का दुःख दूर करना, परोपकार है।
भूखे-प्यासे को सन्तुष्ट करना, परोपकार है।
भूले हुए को मार्ग बताना, परोपकार है।
अज्ञानी को ज्ञान देना, या दिलाना, परोपकार है।
ज्ञान के साधन विद्यालय आदि खोलना, परोपकार है।
लोक-हित के कार्यों में सहर्ष सहयोग देना, परोपकार है।

* *

विना परोपकार के जीवन निरर्थक है।
विना परोपकार के दिन निरर्थक है।
जहाँ परोपकार नहीं, वहाँ मनुष्यत्व नहीं।
जहाँ परोपकार नहीं, वहाँ धर्म नहीं।
परोपकार की जड़ कोमल हृदय है।
परोपकार का फल विश्व-अभय है।
परोपकार कल करना हो तो आज करो।
परोपकार आज करना हो तो अब करो।

* *

बिना धन के भी परोपकार हो सकता है।
किन्तु विना मन के परोपकार नहीं हो सकता है।

* *

धन का मोह परोपकार नहीं होने देता।
शरीर का मोह परोपकार नहीं होने देता।

* * *

परोपकार करने के लिए धनी होने की राह देखे, वह मूर्ख है
वदले की आशा से जो परोपकार करे, वह मूर्ख है।
विना स्नेह और प्रेम के परोपकार करे, वह मूर्ख है।

* * *

भोजन के लिए जीवन नहीं, किन्तु जीवन के लिए भोजन है
धन के लिए जीवन नहीं, किन्तु जीवन के लिए धन है।
धन से जितना अधिक मोह, उतना ही पतन।
धन से जितना कम मोह, उतना ही उत्थान।

१८
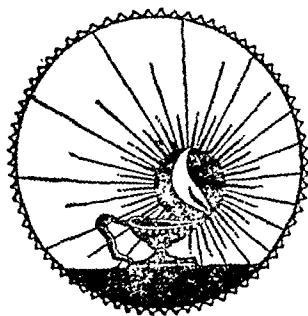
जैन धर्म की पृष्ठभूमि के रूप में इतिहास, परम्परा और प्राचीनता के सम्बन्ध में पिछले अध्यायों में बताया गया है, अब उसका तात्त्विक एवं दार्शनिक स्वरूप भी समझना है, अतः सर्वप्रथम तत्त्वस्वरूप की जानकारी के लिए पढ़िए प्रस्तुत निबन्ध।

तत्त्व-विवेचन

'तत्त्व'—शब्द हमारे व्यवहार में इतना अधिक प्रचलित और व्यापक बन गया है कि उसकी परिभाषा करने की कोई आवश्यकता नहीं रह गई है। फिर भी शाब्दिक दृष्टि से संक्षेप में विचार करें तो उसका अर्थ होगा—'तस्य भावः तत्त्वम्—अर्थात् अस्तित्वहीन काल्पनिक वस्तु को नहीं; सद्भूत वस्तु को तत्त्व कहा जाता है। जैन दर्शन के अनुसार असत् से सत् का निर्माण नहीं होता। अभाव से भाव की स्थिति नहीं होती। जो गधे के सिर पर सींग की तरह असत् हो, वह तत्त्व कैसे हो सकता है ?

तत्त्व का एक और भी व्यावहारिक अर्थ है। वह यह कि जैन धर्म साधना का धर्म है। वह अनादि काल से चले आ रहे आत्मा के अशुद्ध रूप को दूर कर शुद्धस्वरूप की उपलब्धि का मार्ग प्रस्तुत करता है। अतः स्वरूप-साधना की दृष्टि से सर्वप्रथम चैतन्य और जड़ का भेदविज्ञान आवश्यक है। इसके साथ ही चैतन्य और जड़ का परस्पर संयोग, वियोग एवं संयोग वियोग के हेतुओं का परि-ज्ञान भी जरूरी है। अस्तु, साधक को बन्धनमुक्त होने के लिए, आत्मा और उसकी शुद्ध एवं अशुद्ध आदि जिन विभिन्न

स्थितियों का परिवोध अनिवार्य रूप से अपेक्षित है, वे सव भी दर्शन के क्षेत्र में तत्त्व कहे जाते हैं। जैनतत्त्व ज्ञान की भी यही आधारशिला है।

तत्वों की संख्या

अब प्रश्न यह है कि तत्त्व कितने हैं ? इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न शैली से दिया गया है। संक्षेप और विस्तार की अपेक्षा मुख्यरूप से तत्त्वप्रतिपादन की तीन शैली हैं।

एक शैली के अनुसार तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव।

दूसरी शैली में तत्त्वों की संख्या सात गिनाई जाती है—जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

तीसरी शैली में विस्तार से प्रतिपादन करके तत्त्वों की संख्या नौ वताई गई है—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

पहली, दूसरी शैली प्रधान रूप से दर्शन ग्रन्थों में मिलती है, और तीसरी शैली आगम ग्रन्थों में। आगम तथा तत्सम्वन्धी ग्रन्थों में नवतत्त्व अथवा नवपदार्थ के नाम से तत्त्वों का विस्तृत वर्णन किया गया हैं।

जीव, अजीव

नवतत्त्व में सवसे पहला तत्त्व 'जीव' है। जीव की परिभाषा करते हुए उत्तराध्ययन सूत्र में वताया है—**'जीवो उवओग लक्खणो'**—जीव का मुख्य लक्षण, उपयोग = ज्ञान चेतना है। अर्थात् जिसमें ज्ञान है, वह जीव है।

जीव को चैतन्य भी इसीलिए कहते हैं कि उसमें सुख-दुःख, अनुकूल प्रतिकूल आदि की अनुभूति करने की क्षमता है। उसमें ज्ञान है, अतः वह अपने हित-अहित का अववोध कर सकता है।

उपर्युक्त स्वरूप के विपरीत जिसमें ज्ञान-चेतना नहीं है, वह अजीव है। अजीव को जड़ भी कहते हैं। सांख्यदर्शन में इसी जड़ का प्रकृति के नाम से वर्णन किया गया है।

जगत के समस्त पदार्थों को इन दो तत्त्वों में बाँटा जा सकता है। जितने भी प्राणी हैं, चाहे वे कीट पतंग आदि त्रस (जंगम) हैं, या वनस्पति आदि स्थावर हैं, सूक्ष्म हैं या बादर (स्थूल) हैं, देव, नारक हैं या तिर्यञ्च (पशुपक्षी आदि) और मनुष्य हैं, जिनमें भी चेतना है, अनुभूति करने की क्षमता है, फिर भले ही वह व्यक्त हो या अव्यक्त, वे सब जीव हैं।

इसके विपरीत जगत के समस्त जड़ पदार्थ ईंट, चूना, पत्थर, लकड़ी, कागज, लोहा, सोना, चाँदी, आदि जितनी भी भौतिक वस्तुएँ, तथा आकाश, काल आदि अमूर्त जड़ द्रव्य है, वे सब अजीव कोटि में आते हैं।

पुण्य, पाप

शुभ कर्म को पुण्य कहते हैं, और अशुभ कर्म को पाप। ये भी अजीव हैं।

प्रश्न हो सकता है कि शुभ और अशुभ कर्म तो आत्मा की शुभाशुभ प्रवृत्ति हैं, इन्हें अजीव क्यों कहा गया ? जीव की आन्तरिक प्रवृत्ति जीव रूप ही होती है, अजीव रूप नहीं।

इसका समाधान यह है कि आत्मा की शुभाशुभ रूप प्रवृत्ति को तो मन, वचन, कायरूप योग आस्रव के अन्तर्गत रखा गया है। यहाँ पर पुण्य पाप से इतना ही अपेक्षित है कि शुभाशुभ प्रवृत्ति के द्वारा जो कर्म पुद्गल आत्मा के साथ सम्बद्ध होते हैं, वे शुभ कर्म के पुद्गल पुण्य, और अशुभ कर्म के पुद्गल पाप संज्ञा से सूचित किये गये हैं। आत्मा की शुभाशुभ प्रवृत्ति को भाव पुण्य पाप कहते हैं और प्रवृत्ति के अनन्तर आत्मा के साथ जड़

कर्म के रूप में पुद्गलों का जो सम्वन्ध होता है, वह द्रव्य पुण्य पाप है। इस प्रकार भाव रूप पुण्य पाप जीव के क्षेत्र में आते हैं और द्रव्य रूप पुण्य पाप अजीव जड़ के रूप में।

पुण्य के कारण असंख्य हैं, फिर भी संक्षेप दृष्टि से दीन दुःखी को देखकर करुणा से द्रवित हो जाना, उनकी सेवा करना, गुणीजनों के प्रति प्रमोद भाव रखना, भगवान् की स्तुति करना, हितकारी मधुर वचन वोलना, दान देना, परोपकार करना, इत्यादि पुण्य के अनेक भेद किए गये हैं।

पाप के कारण भी यों तो असंख्य हैं, फिर भी संक्षेप में—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह, क्रोध, अहंकार, कपट, लोभ, परनिंदा, ईर्ष्या, चुगली, आलस्य आदि पाप के कारण हैं।

आस्रव

जिन कारणों से आत्मा में कर्ममल आते हैं, उन कारणों को जैन परिभाषा में आस्रव कहा जाता है। एक रूपक की भाषा में वताया गया है कि आत्मा-रूप तालाव है, उस तालाव में कर्म-रूप जल हिंसा, असत्य आदि आस्रव रूप नाली से आकर भरता रहता है। इसका अर्थ हुआ—आस्रव, आत्मा में कर्म के आने का द्वार है, मार्ग है।

आस्रव के पाँच भेद किए गए हैं—मिथ्यात्त्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग।

मिथ्यात्त्व का अर्थ है—विपरीत श्रद्धा। अज्ञान, मताग्रह एवं अभिनिवेश आदि के कारण जव तक विचारदृष्टि सत्याभिलक्षी नहीं होती, तव तक सत्य श्रद्धा प्राप्त नहीं हो सकती। शरीर आदि जड़ में चैतन्य वुद्धि, अतत्व में तत्व-वुद्धि और अधर्म में धर्म वुद्धि आदि की विपरीत भावना एवं प्ररूपणा मिथ्यात्व है।

इसी प्रकार अव्रत=त्याग भावना का अभाव, प्रमाद=सत्कर्म में अनुत्साह, कषाय=क्रोध मान, माया, लोभ और योग=मन, वचन तथा शरीर की शुभाशुभ प्रवृत्ति आस्रव हैं।

प्रश्न हो सकता है कि पहले चार आस्रव तो सदा बुरे ही हैं, अतः वे तो आस्रव ठीक हैं परन्तु उनके साथ योग को भी आस्रव क्यों कहा जाता है, वह तो अच्छा भी होता है।

इसका उत्तर यह है कि—योग आस्रव के दो भेद किए गये हैं—शुभयोग आस्रव और अशुभयोग आस्रव। आत्मा जब परोपकार, करुणा, सेवा आदि सत्कर्म में प्रवृत्त होता है, तब शुभयोग आस्रव होता है, उससे पुण्य कर्म का बंध होता है। इसके विपरीत जब आत्मा हिंसा, झूठ आदि अशुभयोग में प्रवृत्त होता है, तब अशुभयोग आस्रव होता है, उससे आत्मा पाप कर्म का बंध करता है।

अध्यात्म-दृष्टि से पुण्य पाप दोनों ही बन्धन हैं, अतः हेय हैं। बन्धन की दृष्टि से सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी में कोई अन्तर नहीं है। शुभ अशुभ से हटकर शुद्ध दशा में जाना, यही आत्मा का लक्ष्य है। शुभ अशुभ में विकल्प भाव है, सकाम भाव है। निर्विकल्प एवं निष्काम भाव ही धर्म है, जो आत्मा को बन्धनमुक्त करता है।

बन्ध

शुभ अशुभ कर्म जब आत्मा के साथ सम्बन्धित होते हैं—जिसे कर्म का लगना कहते हैं, उस अवस्था को बन्ध कहा गया है। आगम में बताया है कि जिस प्रकार कोई आदमी मिट्टी के दो गोले बनाए, एक गीला और दूसरा सूखा। जब गीले गोले को किसी दीवार पर मारा जाएगा, तो वह तुरन्त दीवार से चिपक जायेगा और बहुत समय तक उसके साथ लगा

रहेगा। किन्तु सूखा गोला जब दीवार से टकरायेगा तो वह शीघ्र ही जमीन पर गिर जायेगा, दीवार के साथ अधिक समय तक चिपक कर नहीं रह सकेगा।

इस उदाहरण से कर्मबन्ध की स्थिति को समझाया गया है कि जब आत्मा के परिणामों में रागद्वेष रूप गीलापन होगा, तो उस दशा में होने वाला कर्म बन्ध गीले गोले की तरह आत्मा के साथ अधिक समय तक सम्बन्ध बनाये रहेगा और आत्मा की शक्तियों को ढँके रखेगा। इसके विपरीत, जब कि रागद्वेष की मन्दता होगी तो उस दशा में किए गये कर्म आत्मा के साथ सूखे गोले की तरह सम्बन्ध करेंगे, जो अल्पकालिक और अल्पप्रभाव वाले होंगे।

इसलिए यह कहा गया है कि कर्म करते और भोगते समय उसमें आसक्त नहीं होना चाहिए, जिससे कि प्रथम तो कर्मबन्ध हो ही नहीं, और यदि हो भी तो अधिक प्रभावशाली न हो।

कर्मबन्ध के स्वरूप को समझने के लिए दूसरा उदाहरण यह दिया जाता है कि—जैसे कोई व्यक्ति शरीर पर तेल लगा कर धूल में लेटता है तो धूल उसके शरीर से चिपक जाती है। इसी प्रकार कषाय और योग के कारण जब आत्मप्रदेशों में कम्पन होता है तब आत्मा के साथ कर्मवर्गणाओं का सम्बन्ध होता है, जो क्षीर नीर अर्थात् दूध पानी की तरह भिन्न-भिन्न होते हुए भी एकाकार दिखलाई पड़ता है।

बन्ध के चार भेद किए गए हैं, जो कर्मों के भिन्न-भिन्न स्वरूप, समय, मन्दता और तीव्रता आदि की सूचना देते हैं। उनके नाम हैं—१. प्रकृतिबन्ध २. स्थितिबन्ध ३. अनुभागबन्ध (रसबन्ध) और ४. प्रदेशबन्ध।

मिथ्यात्व आदि पूर्वोक्त पाँच आस्रवों से कर्मवन्ध होता है किन्तु मुख्य रूप से कषाय-(क्रोधादिक) और योग(मन आदि की प्रवृत्ति) को ही कर्म वन्ध का कारण माना गया है।

संवर

आश्रव का विरोधी तत्त्व 'संवर' है। संवर का अर्थ है-कर्म आने के द्वार को रोकना, शुभाशुभ रूप सकाम प्रवृत्ति से निवृत्त होना।

पहले दिए गये उदाहरण में वताया है कि आश्रव कर्म रूप जल के आने की एक नाली है, उसी नाली को रोक कर कर्मरूप-जल के आने का रास्ता वन्द कर देना संवर है।

संवर, एक निरोधक तत्त्व है, उसका कार्य है—आत्मा को रागद्वेष मूलक अशुभ एवं शुभ रूप प्रवृत्तियों से रोकना।

हिंसा से निवृत्त होना—अहिंसा संवर है, इसी प्रकार असत्य आदि से विरत होना सत्य आदि संवर होते हैं। जैन परिभाषा में इनके निम्न नाम हैं—

हिंसा से विरत होना—प्राणातिपातविरमण संवर है।
असत्य से विरत होना—मृषावादविरमण संवर है।
चोरी से विरत होना—अदत्तादानविरमण संवर है।
मैथुन से विरत होना—मैथुनविरमण संवर है।
परिग्रह से विरत होना—परिग्रहविरमण संवर है।

इसी प्रकार पांचों इन्द्रियों का निग्रह करना, अव्रती से व्रती होना, प्रमाद तथा क्रोध मान आदि कषाय से विरत होना एवं मन वचन और काय पर संयम करना, संवर है। संवर के कुल वीस भेद वताये गए हैं।

जव तक आत्मा को वहिर्मुख प्रवृत्ति से रोका नहीं जाता, तव तक आत्म शुद्धि का प्रयत्न सफल नहीं हो सकता। कल्पना करिए—एक आदमी किसी तालाव को खाली करने के लिए

उसका पानी उलीच-उलीच कर वाहर फक रहा है, दिन रात कड़ा परिश्रम कर रहा है, किन्तु एक ओर ज्यों-ज्यों पानी निकल रहा है त्यों त्यों दूसरी ओर उसके नालों से धकाधक पानी आता जा रहा है। इस प्रकार तालाव जितना खाली होता है उससे कहीं अधिक भरता जा रहा है। इस स्थिति में कितना ही प्रयत्न किया जाये, किन्तु क्या कभी तालाव के खाली होने की संभावना है ? नहीं ! जव नालों को वन्द करके पानी उलीचा जायेगा तभी तालाव खाली हो सकता है।

यही रूपक संवर का है। तालाव रूपी आत्मा में कर्मरूप पानी भरा है, और वह आगे भी आश्रवरूप नालों द्वारा दिन रात भरता ही जा रहा है। तप (निर्जरा) आदि के द्वारा कर्म-जल को उलीच कर निकालने का प्रयत्न किया जाता है, पर जव तक संवर रूप में आस्रव-निरोध (नाला वन्द) नहीं किया जायेगा, तव तक कर्म-जल से आत्म-सरोवर खाली नहीं हो सकता।

साधना की दृष्टि से संवर की कितनी उपादेयता है, यह इस दृष्टान्त से स्पष्ट समझा जा सकता है।

निर्जरा

संवर के वाद निर्जरा तत्त्व का स्थान है। निर्जरा का अर्थ है—कर्मवर्गणा का अंश रूप में आत्मा से दूर हो जाना। वोलचाल की भाषा में कहा जाए तो यों कह सकते हैं कि जिस प्रकार वस्त्र से मैल साफ हो जाता है, वृक्ष से फल झड़ जाता है, उसी प्रकार आत्मा से कर्ममल का दूर हो जाना निर्जरा है।

निर्जरा के दो प्रकार हैं—सकाम निर्जरा और अकाम निर्जरा। संवर भाव को विवेकपूर्वक साधना करके जो तप आदि किया जाता है वह सकाम निर्जरा में आता है। और विना ज्ञान तथा विना संयम के जो तप आदि किया जाता है, वह

अकाम निर्जरा है। जैन दर्शन विवेक और संयम के बिना किये जाने वाले अनशन आदि तप को वालतप कहता है। वालतप पुण्यवन्ध का हेतु तो हो सकता है, परन्तु उससे वन्धनमुक्ति नहीं होती, आत्मशुद्धि नहीं होती।

आत्मा के ऊपर कर्मों का जो आवरण छाया हुआ है, उन्हें तपस्या आदि के द्वारा क्षय किया जाता है। वाह्य और अभ्यन्तर रूप से तप के वारह भेद वताये गए हैं, इस दृष्टि से निर्जरा के भी वारह भेद हो जाते हैं।

अनशन (उपवास आदि), ऊनोदर (भूख से कम खाना), भिक्षाचरी (निर्दोष भिक्षा), रस त्याग (स्वादिष्ट भोजन का परिहार), काय क्लेश (आसन आदि शारीरिक कष्ट)—ये सव वाह्य तप अथवा वाह्य निर्जरा की कोटि में आते हैं।

यह तप:साधना व्यवहार में प्रत्यक्ष दिखाई देती है, तथा दर्शक पर तुरन्त साधक का प्रभाव भी डालती है, इसलिए इस तप:साधना को वाह्यतप कहा गया है।

प्रायश्चित्त (संयम में लगे दोषों का प्रक्षालन), विनय, वैयावृत्य (सेवा) स्वाध्याय, ध्यान (आत्मनिरीक्षण), व्युत्सर्ग (वाह्य उपधि और सुविधाओं का परित्याग)। आत्मशुद्धि की उक्त आन्तरिक धारा को आभ्यन्तर तप कहा गया है।

आभ्यन्तर तप भले ही प्रकट में दिखाई न दे, किन्तु आत्म-शुद्धि की दृष्टि से उसका वहुत अधिक महत्व है।

मोक्ष

मोक्ष, तत्त्वों में नौवाँ तथा आखिरी तत्त्व है। आध्यात्मिक दृष्टि से भी यह साधना का चरम विन्दु है। मोक्ष का सीधा अर्थ है—समस्त कर्मों से मुक्ति! तात्त्विक दृष्टि से कहा जाए, तो आत्मा का अपने शुद्ध स्वरूप में सदा के लिए स्थिर हो जाना ही मुक्ति या मोक्ष है।

निर्जरा की व्याख्या में बताया गया है कि—अंशरूप में आत्मा पर से कर्ममल का दूर हटना निर्जरा है। और यहाँ पर आत्मा से कर्ममल सर्वथा दूर हो जाते हैं, तो उसे मोक्ष कहा जाता है। अर्थ हुआ—कर्मों से आंशिक-मुक्ति निर्जरा है, और सर्वथा-मुक्ति मोक्ष है।

मोक्ष या मुक्ति कोई स्थान या वस्तुविशेष नहीं है, किन्तु आत्मा का अपना शुद्ध, अविकारी चिन्मयस्वरूप ही मुक्ति है। जब तक कर्म पूर्णरूप से क्षय नहीं होते, तब तक यह शुद्ध स्वरूप कर्मों से आवृत्त रहता है, जैसे बादलों से सूर्य। किन्तु कर्मों के समस्त आवरण हटते ही आत्मा का शुद्ध रूप प्रकट हो जाता है, जैसे बादलों के हटने से सूर्य अपनी सहस्र किरणों के साथ चमकने लग जाता है। सूर्य पर बादल पुनः आ सकते हैं, किन्तु आत्मा एक बार कर्ममुक्त होने के बाद फिर कभी भी कर्मों से आवृत नहीं हो सकता।

मोक्ष आत्मा के विकास की पूर्ण अवस्था है। पूर्णता में कोई भेद नहीं होता, इसलिए मोक्ष का कोई भेद और प्रकार नहीं है। मोक्ष के जितने भी भेद बताये गये हैं, वे सब मोक्ष प्राप्ति के साधन रूप तथा अवस्था भेद के कारण बताये गये हैं वे भेद पूर्व अवस्था की दृष्टि से ही हैं।

आध्यात्मिक समता और समानता का अखण्ड साम्राज्य मोक्ष में ही है।

* * *

१९

किसी को मारना या कष्ट देना मात्र ही हिंसा नहीं है, हिंसा के असंख्य रूप हमारे जीवन में इस प्रकार घुल गए हैं कि उन्हें पहचानना भी कठिन हो गया है। हिंसा के सूक्ष्म रूपों का दिग्दर्शन प्रस्तुत प्रकरण में कराया गया है।

हिंसा

किसी जीव को सताना, हिंसा है।
झूठ बोलना, कटु बोलना हिंसा है।
दंभ करना, धोखा देना हिंसा है।
किसी की चुगली करना हिंसा है।

* *

किसी का बुरा चाहना हिंसा है।
दुःख होने पर घबराना हिंसा है।
सुख में फूल कर अकड़ना हिंसा है।
किसी की निंदा और बुराई करना हिंसा है।

* *

गाली देना हिंसा है।
अपनी बड़ाई हाँकना हिंसा है।
किसी पर कलंक लगाना हिंसा है।
झिड़कना, भद्दा मजाक करना हिंसा है।

* *

किसी पर अन्याय होते देखकर खुश होना हिंसा है।
शक्ति होने पर भी अन्याय को न रोकना हिंसा है।
आलस्य और प्रमाद में निष्क्रिय पड़े रहना हिंसा है।
अवसर आने पर भी सत्कर्म से जी चुराना हिंसा है।

* *

विना बाँटे अकेले खाना हिंसा है।
इन्द्रियों का गुलाम रहना हिंसा है।
दवे हुए कलह को उखाड़ना हिंसा है।
किसी की गुप्त वात को प्रकट करना हिंसा है।

* *

किसी को नीच-अछूत समझना हिंसा है।
शक्ति होते हुए भी सेवा न करना हिंसा है।
वड़ों की विनय भक्ति न करना हिंसा है।
छोटों से स्नेह, सद्भाव न रखना हिंसा है।

* *

ठीक समय पर अपना फर्ज अदा न करना हिंसा है।
सच्ची वात को किसी बुरे संकल्प से छिपाना हिंसा है।

२०

अहिंसा जैन-संस्कृति की आत्मा है। जीवन की उन्नति और शान्ति का मूल अहिंसा की भावना के साथ जुड़ा हुआ है।
हिंसा के सम्बन्ध में पिछले अध्याय में पढ़ा, अब पढ़िए अहिंसा का स्वरूप और उसकी साधना पद्धति।

जैन-संस्कृति की अमर देन : अहिंसा

जैन-संस्कृति की संसार को जो सबसे बड़ी देन है, वह अहिंसा है। अहिंसा का यह महान् विचार, जो आज विश्व की शान्ति का सर्व-श्रेष्ठ साधन समझा जाने लगा है, और जिसकी अमोघ शक्ति के सम्मुख संसार की समस्त संहारक शक्तियाँ कुण्ठित होती दिखाये देने लगी हैं; जैन-संस्कृति का प्राण है। जैन धर्म का मूल आधार है।

दुःख मनुष्य ने ही पैदा किया है

जैन-संस्कृति का महान् संदेश है कि कोई भी मनुष्य समाज से सर्वथा पृथक् रहकर अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। समाज में घुल-मिल कर ही वह अपने जीवन का आनन्द उठा सकता है और आस-पास के संगी-साथियों को भी उठाने दे सकता है। जब यह निश्चित है कि व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता; तब यह भी आवश्यक है कि वह अपने हृदय को उदार बनाए, विशाल बनाए, विराट बनाए और जिन लोगों से खुद को काम लेना है, या जिनको देना है,

उनके हृदय में अपनी ओर से पूर्ण विश्वास पैदा करे। जब तक मनुष्य अपने पार्श्ववर्ती समाज में अपनेपन का भाव पैदा न करेगा, अर्थात् जब तक दूसरे लोग उसको अपना न समझेंगे और वह भी दूसरों को अपना न समझेगा, तब तक समाज का कल्याण नहीं हो सकता। मनुष्य-मनुष्य में एक दूसरे के प्रति अविश्वास ही अशान्ति और विनाश का कारण बना हुआ है।

संसार में जो चारों ओर दुःख का हाहाकार है, वह प्रकृति की ओर से मिलने वाला तो बहुत ही साधारण है। यदि अन्तर्निरीक्षण किया जाए, तो प्रकृति, दुःख की अपेक्षा हमारे सुख में ही अधिक सहायक है। वास्तव में जो कुछ भी ऊपर का दुःख है, वह मनुष्य पर मनुष्य के द्वारा ही लादा हुआ है। यदि हर एक व्यक्ति अपनी ओर से दूसरों पर किए जाने वाले दुःख के कारणों को हटा दें तो यह संसार आज ही नरक से स्वर्ग में बदल सकता है।

सुख का साधन 'स्व' की सीमा

जैन-संस्कृति के महान् संस्कारक अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर ने तो राष्ट्रों में परस्पर होने वाले युद्धों का हल भी अहिंसा के द्वारा ही बतलाया है। उनका उपदेश है कि मनुष्य 'स्व' की सीमा में ही सन्तुष्ट रहे, 'पर' की सीमा में प्रविष्ट होने का कभी भी प्रयत्न न करे। 'पर' की सीमा में प्रविष्ट होने का अर्थ है, दूसरों के सुख-साधनों को देखकर लालायित होना और उन्हें छीनने का दुःसाहस करना।

हाँ तो जब तक नदी अपनी धारा में प्रवाहित होती रहती है, तब तक उससे संसार को अनेक प्रकार के लाभ मिलते रहते हैं। हानि कुछ भी नहीं। ज्यों ही वह अपनी सीमा से हटकर आस-पास के प्रदेश पर अधिकार जमा लेती है, बाढ़ का रूप

धारण कर लेती है, तो संसार में हाहाकार मच जाता है, प्रलय का दृश्य खड़ा हो जाता है। यही दशा मनुष्यों की है। जब तक सब के सब मनुष्य अपने-अपने 'स्व' में ही प्रवाहित रहते हैं, तब तक कुछ अशान्ति नहीं है। अशान्ति और विग्रह का वातावरण वहीं पैदा होता है, जहाँ कि मनुष्य 'स्व' से बाहर फैलना शुरू करता है, दूसरों के अधिकारों को कुचलता है और दूसरों के जीवनोपयोगी साधनों पर कब्जा जमाने लगता है।

प्राचीन जैन-साहित्य उठाकर आप देख सकते हैं कि भगवान् महावीर ने इस दिशा में बड़े स्तुत्य प्रयत्न किए हैं। वे अपने प्रत्येक गृहस्थ शिष्य को पाँचवें अपरिग्रहव्रत की मर्यादा में सर्वदा 'स्व' में ही सीमित रहने की शिक्षा देते हैं। व्यापार तथा उद्योग आदि क्षेत्रों में उन्होंने अपने अनुयायियों को अपने न्याय-प्राप्त अधिकारों से कभी भी आगे नहीं बढ़ने दिया। प्राप्त अधिकारों से आगे बढ़ने का अर्थ है, अपने दूसरे साथियों के साथ संघर्ष में उतरना।

जैन-संस्कृति का अमर आदर्श है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी उचित आवश्यकता की पूर्ति के लिए, अपनी मर्यादा में रहते हुए, उचित साधनों का ही प्रयोग करे। आवश्यकता से अधिक किसी भी सुख-सामग्री का संग्रह कर रखना, जैन-संस्कृति में चोरी है। व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र क्यों लड़ते हैं? इसी अनुचित संग्रह-वृत्ति के कारण। दूसरों के जीवन की, जीवन के सुख साधनों की उपेक्षा करके मनुष्य कभी भी सुख-शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। अहिंसा के बीज अपरिग्रह-वृत्ति में ही ढूँढ़े जा सकते हैं। एक अपेक्षा से कहें तो अहिंसा और अपरिग्रह वृत्ति दोनों पर्यायवाची शब्द हैं।

'युद्ध' और 'अहिंसा'

आत्म-रक्षा के लिए उचित प्रतिकार के साधन जुटाना, जैनधर्म के विरुद्ध नहीं है। परन्तु आवश्यकता से अधिक संगृहीत एवं संगठित शक्ति अवश्य ही संहार-लीला का अभिनय करेगी, अहिंसा को मरणोन्मुखी बनाएगी। अतएव आप आश्चर्य न करें कि पिछले कुछ वर्षों से जो शस्त्र-संन्यास का आन्दोलन चल रहा है, प्रत्येक राष्ट्र को सीमित युद्ध सामग्री रखने को कहा जा रहा है, वह जैन तीर्थङ्करों ने हजारों वर्ष पहले चलाया था। आज जो काम कानून तथा संविधान के द्वारा लिया जाता है, उन दिनों वह उपदेशों द्वारा लिया जाता था। भगवान् महावीर ने बड़े-बड़े राजाओं को जैन-धर्म में दीक्षित किया था और उन्हें नियम कराया गया था कि वे राष्ट्र-रक्षा के काम में आने वाले आवश्यक शस्त्रों से अधिक शस्त्र-संग्रह न करें। साधनों का आधिक्य मनुष्य को उद्दण्ड और बेलगाम बना देता है। प्रभुता की लालसा में आकर वह कभी-न-कभी किसी पर चढ़ दौड़ेगा और मानव-संसार में युद्ध की आग भड़का देगा। इस दृष्टि से जैन तीर्थङ्कर हिंसा के मूल कारणों को उखाड़ने का प्रयत्न करते रहे हैं।

जैन तीर्थङ्करों ने कभी भी युद्धों का समर्थन नहीं किया। जहाँ अनेक धर्माचार्य साम्राज्यवादी राजाओं के हाथों की कठपुतली बनकर युद्ध का उन्मुक्त समर्थन करते आए हैं, युद्ध में मरने वालों को स्वर्ग का लालच दिखाते आए हैं, राजा को परमेश्वर का अंश बताकर उसके लिए सब कुछ अर्पण कर देने का प्रचार करते आए हैं, वहाँ जैन तीर्थङ्कर इस सम्बन्ध में बहुत ही स्पष्ट और दृढ़ रहे हैं। 'प्रश्न व्याकरण' और 'भगवती सूत्र' युद्ध के विरोध में क्या कुछ कहते हैं? यदि थोड़ा-सा कष्ट उठाकर देखने का प्रयत्न करेंगे, तो वहाँ बहुत-

कुछ युद्ध-विरोधी विचार-सामग्री प्राप्त कर सकेंगे। मगधाधिपति अजातशत्रु कूणिक भगवान् महावीर का कितना उत्कृष्ट भक्त था? 'औपपातिक सूत्र' में उसकी भक्ति का चित्र चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है। प्रतिदिन भगवान् के कुशल-समाचार जान कर फिर अन्न-जल ग्रहण करना, कितना उग्र नियम है! परन्तु वैशाली पर कूणिक द्वारा होने वाले आक्रमण का भगवान् ने जरा भी समर्थन नहीं किया। प्रत्युत कूणिक के प्रश्न पर उसे अगले जन्म में नरक का अधिकारी बताकर उसके क्रूर-कर्मों को स्पष्ट ही धिक्कारा है। अजातशत्रु इस पर रुष्ट भी हो जाता है, किन्तु भगवान् महावीर इस बात की कुछ भी परवाह नहीं करते। भला, अहिंसा के अवतार उसके रोमांचकारी नर-संहार का समर्थन कैसे कर सकते थे?

अहिंसा निष्क्रिय नहीं है

जैन तीर्थङ्करों द्वारा उपदिष्ट अहिंसा निष्क्रिय अहिंसा नहीं है। वह विध्यात्मक है। जीवन के भावात्मक रूप प्रेम, परोपकार एवं विश्व-बन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत है। जैन धर्म की अहिंसा का क्षेत्र बहुत ही व्यापक एवं विस्तृत है। उसका आदर्श, स्वयं आनन्द से जीओ और दूसरों को जीने दो, यहीं तक सीमित नहीं है। उसका आदर्श है—दूसरों के जीने में सहयोगी बनो। बल्कि अवसर आने पर दूसरों के जीवन की रक्षा के लिए अपने जीवन की आहुति भी दे डालो। वे उस जीवन को कोई महत्व नहीं देते, जो जन-सेवा के मार्ग से सर्वथा दूर रहकर एक मात्र भक्ति-वाद के अर्थ-शून्य क्रियाकाण्डों में ही उलझा रहता है।

भगवान् महावीर ने एक बार अपने प्रमुख शिष्य गणधर गौतम को यहाँ तक कहा था कि मेरी सेवा करने की अपेक्षा

दीन-दु:खितों की सेवा करना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। मैं उन पर प्रसन्न नहीं, जो मेरी भक्ति करते हैं, माला फेरते हैं। किन्तु मैं उन पर प्रसन्न हूं, जो मेरी आज्ञा का पालन करते हैं। मेरी आज्ञा है—"प्राणिमात्र की आत्मा को सुख, सन्तोष और आनन्द पहुँचाओ।"

भगवान् महावीर का यह महान् ज्योतिर्मय सन्देश आज भी हमारी आँखों के सामने है, इसका सूक्ष्म बीज 'उत्तराध्ययन-सूत्र' की सर्वार्थ-सिद्धि-वृत्ति में आज भी हम देख सकते हैं।

वर्तमान परिस्थिति और अहिंसा

अहिंसा के महान् सन्देशवाहक भगवान् महावीर थे। आज से अढाई हजार वर्ष पहले का समय, भारतीय संस्कृति के इतिहास में, एक प्रगाढ़ अन्धकारपूर्ण युग माना जाता है। देवी-देवताओं के आगे पशु-बलि के नाम पर रक्त की नदियाँ बहाई जाती थीं, मांसाहार और सुरापान का दौर चलता था। अस्पृश्यता के नाम पर करोड़ों की संख्या में मनुष्य अत्याचार की चक्की में पिस रहे थे। स्त्रियों को भी मनुष्योचित अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। एक क्या, अनेक रूपों में हिंसा की प्रचण्ड ज्वालाएँ धधक रही थीं, समूची मानव जाति उससे संत्रस्त हो रही थी। उस समय में भगवान् महावीर ने संसार को अहिंसा का अमृतमय सन्देश दिया। हिंसा का विषाक्त प्रभाव धीरे-धीरे शान्त हुआ और मनुष्य के हृदय में मनुष्य क्या, पशुओं के प्रति भी दया, प्रेम और करुणा की अमृत-गंगा बह उठी। संसार में स्नेह, सद्भाव और मानवोचित अधिकारों का विस्तार हुआ। संसार की मातृजाति नारी को फिर से योग्य सम्मान मिला। शूद्रों को भी मानवीय ढंग से जीने का अधिकार प्राप्त हुआ। और निरीहपशु भी मनुष्य के क्रूर-हाथों से अभय-दान पाकर

भयमुक्त हुए। अहिंसा की प्रतिष्ठा से संसार में सद्भाव और प्रेम की गंगा वहने लग गई।

दुर्भाग्य से आज वह प्रेम और सद्भाव की गंगा फिर सूखने जा रही है। 'अभय' और 'मैत्री' के उपवन में आज भय, छल, प्रपंच और धोखाधड़ी के झाड़-झंखाड़ फिर से खड़े हो रहे हैं। संसार विगत दो महायुद्धों की विभीषिका को अभी भूला नहीं है कि तीसरे महायुद्ध के बादल उसके क्षितिज पर मँडराने लगे हैं। प्रत्येक देश शक्ति एवं सेना के विस्तार की होड़ में दौड़ रहा है भयानक शस्त्रास्त्रों का विस्तार एवं निर्माण करता जा रहा है। संसार युद्ध और महानाश के द्वार पर खड़ा है।

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र आज अविश्वास, भय और आशंकाओं से घिरे हुए हैं। उनका मन, बुद्धि और जीवन अशान्त और भयाक्रान्त सा है। ऐसे समय में शान्ति और विश्वास का वातावरण निर्माण करने वाली कोई शक्ति है, तो वह अहिंसा ही है। अहिंसा ही मानव-मानव को परस्पर प्रेम, सद्भाव एवं सहयोग के सूत्र में बांध सकती है। प्रसिद्ध जैनाचार्य समन्तभद्र के शब्दों में—"अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्" अहिंसा ही प्राणियों के लिए परमब्रह्म या परम संजीवनी शक्ति है।

२१

> जैन धर्म के क्रांतिकारी सिद्धान्त जब रूढ़िवादी मनोवृत्ति को पसन्द नहीं आये, तो उसने 'नास्तिक' कहकर भोली जनता में इसके प्रति घृणा फैलाने का प्रयत्न किया।
> इस निबन्ध में पढ़िए उसी घृणा फैलाने वाली मनोवृत्ति के तथ्यहीन तर्कों का शास्त्रीय और बौद्धिक उत्तर !

जैनधर्म की आस्तिकता

मनुष्य जब साम्प्रदायिकता के रंग में रंग कर अपने मत का समर्थन और दूसरे मतों का खण्डन करने लगता है, तब वह कभी-कभी बहुत भयंकर रूप धारण कर लेता है। किसी विषय में मतभेद होना उतना बुरा नहीं है, जितना कि मतभेद में घृणा का जहर भर देना। भारतवर्ष में यह सांप्रदायिक मतभेद इतना उग्र, कटु एवं विषाक्त हो गया है कि आज हमारी अखण्ड राष्ट्रीयता भी इसके कारण छिन्न-भिन्न हो रही है।

हिन्दू, मुसलमानों को म्लेच्छ कहते हैं; और मुसलमान, हिन्दुओं को काफिर कहते हैं। इसी प्रकार कुछ महानुभाव जैन-धर्म को नास्तिक कहते हैं। मतलब यह कि जिसके मन में जो आता है, वही आँख बन्द कर अपने विरोधी सम्प्रदाय को कह डालता है। इस बात का जरा भी विचार नहीं किया जाता कि मैं जो कुछ कह रहा हूं, वह कहाँ तक सत्य है? इसका क्या परिणाम निकलेगा? किसी पर मिथ्या दोषारोपण

करना तथा किसी के प्रति घृणा फैलाना अनुचित ही नहीं, नैतिक अपराध भी है।

क्या जैन धर्म नास्तिक है ?

आज हम इसी पर विचार करेंगे कि जैन-धर्म को जो लोग नास्तिक-धर्म कहते हैं; वे कहाँ तक ठीक हैं ?

जैन-धर्म पूर्णतः आस्तिक धर्म है। उसे नास्तिक धर्म कहना, सर्वथा असंगत है।

प्रश्न है कि भारत के कुछ लोग जैन-धर्म को नास्तिक क्यों कहने लगे ? इसका भी एक इतिहास है। ब्राह्मण धर्म में जब यज्ञ-याग आदि का प्रचार हुआ और धर्म के नाम पर दीन-हीन मूक पशुओं की हिंसा प्रारम्भ हुई, तब भगवान् महावीर ने इस अंध-विश्वास और हिंसा का जोरदार विरोध किया। यज्ञ-याग आदि के समर्थन में आधार-भूत ग्रन्थ वेद थे, अतः हिंसा का समर्थन करने वाले वेदों को भी अप्रामाणिक सिद्ध किया गया। इस पर कुछ मताग्रही ब्राह्मणों में बड़ा क्षोभ फैला। वे मन-ही-मन झुंझला उठे। जैन-धर्म की अकाट्य तर्कों का तो कोई उत्तर दिया नहीं गया, किन्तु यह कह कर शोर मचाया जाने लगा कि जो वेदों को नहीं मानते हैं, जो वेदों की निन्दा करते हैं, वे नास्तिक हैं—"**नास्तिको वेद-निन्दकः।**" तब से लेकर आज तक जैन-धर्म पर यही आक्षेप लगाया जा रहा है। तर्क का उत्तर तर्क से न देकर गाली गलौज करना, तो स्पष्ट दुराग्रह और साम्प्रदायिक अभिनिवेश है। कोई भी तटस्थ बुद्धिमान् विचारक कह सकता है कि यह सत्य के निर्णय करने की कसौटी नहीं है।

वैदिक-धर्मावलम्बी जैन-धर्म को वेदनिन्दक होने के कारण यदि नास्तिक कह सकते हैं, तो फिर जैन भी वैदिक धर्म को

जैन-निन्दक होने के कारण नास्तिक कह सकते हैं–'नास्तिको जैन-निन्दकः ।' परन्तु यह कोई अच्छा मार्ग नहीं है। यह कौन सा तर्क है कि ब्राह्मण धर्म के ग्रन्थों को न मानने वाला नास्तिक कहलाए और जैन-धर्म के ग्रन्थों को न मानने वाला नास्तिक न कहलाए ? सच तो यह है कि कोई भी धर्म अपने से विरुद्ध किसी अन्य धर्म के ग्रन्थों को न मानने मात्र से नास्तिक नहीं कहला सकता। यदि ऐसा है तो फिर सभी धर्म नास्तिक हो जायेंगे, क्योंकि यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि सभी धर्म क्रिया काण्ड आदि के रूप में कहीं न कहीं एक दूसरे के परस्पर विरोधी हैं। दुःख है कि आज के प्रगतिशील युग में भी इन थोथी दलीलों से काम लिया जा रहा है और व्यर्थ ही सत्य की हत्या कर एक दूसरे को नास्तिक कहा जा रहा है।

वेदों का विरोध क्यों ?

जैन-धर्म को वेदों से कोई द्वेष नहीं है। वह किसी प्रकार की द्वेष बुद्धिवश वेदों का विरोध नहीं करता है। जैन-धर्म जैसा समभाव का पक्षपाती धर्म भला क्यों किसी की निन्दा करे ? वह तो विरोधी से विरोधी के सत्य को भी मस्तक झुका कर स्वीकार करने के लिए तैयार है। आप कहेंगे, फिर वेदों का विरोध क्यों किया जाता है ? वेदों का विरोध इसलिए किया जाता है कि वेदों में अजमेध, अश्वमेघ, आदि हिंसामय यज्ञों का विधान है और जैन-धर्म हिंसा का स्पष्ट विरोधी है। फिर धर्म के नाम पर किए जाने वाले निरीह पशुओं का वध तो वह तलवारों की छाया के नीचे भी सहन नहीं कर सकता।

क्या जैन परमात्मा को नहीं मानते ?

जैन-धर्म को नास्तिक कहने के लिए आजकल एक और कारण बताया जाता है। वह कारण बिल्कुल ही बेसिर-पैर

का है। लोग कहते हैं कि 'जैन-धर्म परमात्मा को नहीं मानता, इसलिए नास्तिक है।'

हम पूछना चाहते हैं कि आपको यह कैसे पता चला कि जैन-धर्म परमात्मा को नहीं मानता। परमात्मा के सम्बन्ध में जैन-धर्म की अपनी एक निश्चित परिभाषा है। **जो आत्मा राग-द्वेष से सर्वथा रहित हो, जन्म-मरण से सर्वथा मुक्त हो, केवल ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त कर चुका हो, न शरीर हो, न इन्द्रियाँ हों, न कर्म हो, न कर्म-फल हो, वह अजर, अमर, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा परमात्मा है।** जैन-धर्म इस प्रकार के वीतराग परमात्मा को मानता है। वह प्रत्येक आत्मा में इसी परम-प्रकाश को छुपा हुआ देखता है और कहता है कि हर कोई साधक वीतराग भाव की उपासना के द्वारा परमात्मा का पद पा सकता है। अब बतलाइए, जैन-धर्म परमात्मा को कैसे नहीं मानता ?

हमारे वैदिक-धर्मावलम्बी मित्र कह सकते हैं कि 'परमात्मा का जैसा स्वरूप हम मानते हैं, वैसा जैन-धर्म नहीं मानता, इसलिए नास्तिक है।' यह तर्क नहीं, मताग्रह है। जिन्हें वे आस्तिक कहते हैं वे भी तो परमात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में कहाँ एक-मत हैं ? मुसलमान खुदा का स्वरूप कुछ और ही बताते हैं, ईसाई कुछ और ही। वैदिक धर्म में भी सनातन धर्म का ईश्वर और है, आर्यसमाज का ईश्वर और है। सनातन धर्म का ईश्वर अवतार धारण कर सकता है, परन्तु आर्य समाज का ईश्वर अवतार धारण नहीं कर सकता। अब कहिए, कौन आस्तिक है और कौन नास्तिक ? केवल परमात्मा को मानने भर से यदि आस्तिक हैं, तो जैन-धर्म भी अपनी परिभाषा के अनुसार परमात्मा को मानता है, अतः वह भी आस्तिक है।

कुछ विद्वान यह भी कहते हैं कि जैन लोग परमात्मा को जगत् का कर्ता नहीं मानते, इसलिए नास्तिक हैं। यह तर्क भी

ऊपर के समान व्यर्थ है। जब परमात्मा वीतराग है, रागद्वेष से रहित है, तब वह जगत् का क्यों निर्माण करेगा? और फिर उस जगत् का, जो आधिव्याधि के भयंकर दुःखों से संत्रस्त है। इस प्रकार के जगत् की रचना में वीतराग भाव कैसे सुरक्षित रह सकता है? और विना शरीर के निर्माण होगा भी कैसे? अस्तु, परमात्मा में जगत्-कर्तृत्व धर्म है ही नहीं।

किसी वस्तु का अस्तित्व होने पर ही तो उसे माना जाए! मनुष्य के पंख नहीं हैं। कल यदि कोई यह कहे कि मनुष्य के पंख होना मानो, नहीं तो तुम नास्तिक हो। यह भी अच्छी बला है। इस प्रकार तो सत्य का गला ही घोंट दिया जाएगा।

नास्तिक कौन?

वैदिक सम्प्रदाय में मीमांसा, सांख्य और वैशेषिक आदि दर्शन कट्टर निरीश्वरवादी दर्शन हैं। जगत्कर्ता तो क्या, ईश्वर का अस्तित्व तक नहीं स्वीकार करते। फिर भी वे आस्तिक हैं। और जैन-धर्म अपनी परिभाषा के अनुसार परमात्मा को मानता हुआ भी नास्तिक है। यह केवल अपने मत के प्रति मिथ्या राग और दूसरे धर्म के प्रति मिथ्या द्वेष नहीं तो क्या है? आज के बुद्धिवादी युग में ऐसी बातों का कोई महत्त्व नहीं!

शब्दों के वास्तविक अर्थ का निर्णय व्याकरण से होता है। शब्दों के सम्बन्ध में व्याकरण ही विद्वानों को मान्य होता है, अपनी मनःकल्पना नहीं। आस्तिक और नास्तिक शब्द संस्कृत भाषा के हैं। अतः आइए, किसी प्रसिद्ध संस्कृत व्याकरण के आधार पर इसका विचार करें। लीजिए, पाणिनीय व्याकरण है। यह व्याकरण जैन सम्प्रदायका नहीं; वैदिक सम्प्रदाय का ही है।

महर्षि पाणिनि के द्वारा रचित व्याकरण के अष्टाध्यायी नामक ग्रंथ के चौथे अध्याय के चौथे पाद का साठवाँ सूत्र है—अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः ४।४।६०।

भट्टो जी दीक्षित ने अपनी सिद्धान्त कौमुदी में इसका अर्थ किया है—

"अस्ति परलोक इत्येवं मतिर्यस्य स आस्तिकः,
नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः।"

इस का हिन्दी अर्थ यह है कि—"जो परलोक को मानता है, वह आस्तिक है। और जो परलोक को नहीं मानता है, वह नास्तिक है।"

अब कोई भी विचारक देख सकता है कि व्याकरण क्या कहता है और हमारे ये कुछ पड़ौसी मित्र क्या कहते हैं ? जैन दर्शन आत्मा को मानता है, परमात्मा को मानता है, आत्मा की अनन्त शक्तियों में विश्वास करता है। आत्मा को परमात्मा बनने का अधिकार देता है। वह परलोक को मानता है, पुनर्जन्म को मानता है, पाप-पुण्य को मानता है, संसार और मोक्ष को मानता है, फिर भी उसे नास्तिक कहने का दुःसाहस कौन कर सकता है ? जिस धर्म में कदम-कदम पर अहिंसा और करुणा की गंगा बह रही हो, जिस धर्म में सत्य और सदाचार के लिए सर्वस्व का त्याग कर कठोर साधना का मार्ग अपनाया जा रहा हो, जिस धर्म में परम वीतराग भगवान् महावीर जैसे महापुरुषों की विश्वकल्याणमयी वाणी का अमर स्वर गूँज रहा हो, वह धर्म नास्तिक नहीं हो सकता। यदि इतने पर भी जैन-धर्म को नास्तिक कहा जाता है, तब तो संसार का एक भी धर्म आस्तिक न कहला सकेगा।

* *
*

२२

जैन दर्शन प्रत्येक वस्तु, और प्रत्येक सिद्धान्त के सब पहलुओं पर विचार करके अपना निर्णय देता है, इसलिए उसको समन्वयवाद, या अनेकान्तवाद भी कहा जाता है।
प्रस्तुत निबन्ध में अनेकान्त दृष्टि से विभिन्न वादों का समन्वय करने की पद्धति का सुन्दर दिग्दर्शन कराया गया है।

विभिन्न दर्शनों का समन्वय

भारतवर्ष में दार्शनिक विचारधारा का जितना अधिक विकास हुआ है, उतना अन्यत्र नहीं हुआ। भारतवर्ष दर्शन की जन्म-भूमि है। यहाँ भिन्न-भिन्न दर्शनों के भिन्न-भिन्न विचार बिना किसी प्रतिबन्ध और नियन्त्रण के फूलते-फलते रहे हैं। यदि भारत के सभी पुराने दर्शनों का परिचय दिया जाए तो एक विस्तृत ग्रन्थ तैयार हो सकता है। अतः यहाँ विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही भारत के बहुत पुराने पाँच दार्शनिक विचारों का परिचय दिया जाता है। भगवान् महावीर के समय में भी इन दर्शनों का अस्तित्व था और आज भी बहुत से लोग इन दर्शनों के विचार रखते हैं।

लम्बी चर्चा में उतरने से पहले उन पाँचों दर्शनों के नाम बताए देते हैं। पाँचों के नाम इस प्रकार हैं—(१) कालवाद, (२) स्वभाववाद, (३) कर्मवाद, (४) पुरुषवाद और (५)

नियतिवाद। इन पाँचों दर्शनों का परस्पर में संघर्ष है और प्रत्येक दर्शन परस्पर एक दूसरे का खण्डन कर केवल अपने ही द्वारा कार्य सिद्ध होने का दावा करता है।

१. काल-वाद

कालवाद का दर्शन बहुत पुराना है। वह काल को ही सबसे बड़ा महत्त्व देता है। कालवाद का कहना है कि संसार में जो कुछ भी कार्य हो रहे हैं, सब काल के प्रभाव से ही हो रहे हैं। काल के बिना स्वभाव, कर्म, पुरुषार्थ और नियति कुछ भी नहीं कर सकते। एक व्यक्ति पाप या पुण्य का कार्य करता है, परन्तु उसी समय उसका फल नहीं मिलता। समय आने पर ही कार्य का अच्छा या बुरा फल प्राप्त होता है। एक बालक आज जन्म लेता है। आप उसे कितना ही चलाइए, वह चल नहीं सकता। कितना ही बुलवाइए, बोल नहीं सकता। समय आने पर ही चलेगा, और बोलेगा। जो बालक आज सेर-भर का पत्थर नहीं उठा सकता, वह काल-परिपाक के बाद युवा होने पर मन-भर पत्थर को उठा लेता है। आम का वृक्ष आज बोया है। क्या आप आज ही उसके मधर फलों का रसास्वादन कर सकते हैं? वर्षों के बाद कहीं आम्रफल के दर्शन होंगे। ग्रीष्मकाल में ही सूर्य तपता है। शीतकाल में ही शीत पड़ता है। युवावस्था में ही पुरुष के दाढ़ी-मूँछ आती हैं। मनुष्य स्वयं कुछ नहीं कर सकता। समय आने पर ही सब कार्य होते हैं। यह काल की महिमा है।

२. स्वभाव-वाद

स्वभाव-वाद का दर्शन भी कुछ कम नहीं है। वह भी अपने समर्थन में बड़े पैने तर्क उपस्थित करता है। स्वभाववाद

का कहना है कि संसार में जो कुछ कार्य हो रहे हैं, सब वस्तुओं के अपने स्वभाव के प्रभाव से ही हो रहे हैं। स्वभाव के बिना काल, कर्म, नियति आदि कुछ भी नहीं कर सकते। आम की गुठली में आम का वृक्ष होने का स्वभाव है, इसी कारण माली का पुरुषार्थ सफल होता है, और समय पर वृक्ष तैयार हो जाता है। यदि काल ही सब कुछ कर सकता है, तो क्या वह निबौली से आम का वृक्ष उत्पन्न कर सकता है? कभी नहीं। स्वभाव का बदलना बड़ा कठिन कार्य है। कठिन क्या, असम्भव कार्य है। नीम के वृक्ष को गुड़ और घी से सींचते रहिए, क्या वह मधुर हो सकता है? दही बिलोने से ही मक्खन निकलता है, पानी से नहीं; क्योंकि दही में ही मक्खन देने का स्वभाव है। अग्नि का स्वभाव गर्म है, जल का स्वभाव शीतल है, सूर्य का स्वभाव प्रकाश करना है और तारों का रात में चमकना। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव के अनुसार कार्य कर रही है। स्वभाव के समक्ष बिचारे काल आदि क्या कर सकते हैं?

३. कर्म-वाद

कर्मवाद का दर्शन तो भारतवर्ष में बहुत चिर-प्रसिद्ध दर्शन है। यह एक प्रबल दार्शनिक विचारधारा है। कर्मवाद का कहना है कि काल, स्वभाव, पुरुषार्थ आदि सब नगण्य हैं। संसार में सर्वत्र कर्म का ही एक-छत्र साम्राज्य है। देखिए— एक माता के उदर से एक साथ दो बालक जन्म लेते हैं, उनमें एक बुद्धिमान् होता है, दूसरा मूर्ख! ऊपर का वातावरण रंग-ढंग एक होने पर भी भेद क्यों है? मनुष्य के नाते एक समान होने पर भी कर्म के कारण भेद है। बड़े-बड़े बुद्धिमान चतुर पुरुष भूखों मरते हैं, और वज्रमूर्ख गद्दी-तकियों के सहारे

सेठ बनकर आराम करते हैं। एक को माँगने पर भीख भी नहीं मिलती, दूसरा रोज हजार बारह सौ रुपए खर्च कर डालता है। एक के तन पर कपड़े के नाम पर चिथड़े भी नहीं हैं, और दूसरे के यहाँ कुत्ते भी मखमल के गद्दों पर लेट लगाते हैं। यह सब क्या है, अपने-अपने कर्म हैं। राजा को रंक और रंक को राजा बनाना, कर्म के बाएँ हाथ का खेल है। तभी तो एक विद्वान ने कहा है—"**गहना कर्मणो गतिः।**" अर्थात् कर्म की गति बड़ी गहन है।

४. पुरुष-वाद

पुरुषार्थवाद का भी संसार में कम महत्त्व नहीं है। यह ठीक है कि जनता ने पुरुषार्थवाद के दर्शन को अभी तक अच्छी तरह नहीं समझा है और उसने कर्म, स्वभाव तथा काल आदि को ही अधिक महत्त्व दिया है। परन्तु पुरुषार्थवाद का कहना है कि बिना पुरुषार्थ के संसार का एक भी कार्य सफल नहीं हो सकता। संसार में जहाँ कहीं भी जो भी कार्य होता देखा जाता है, उसके मूल में कर्ता का अपना पुरुषार्थ ही छिपा होता है। काल कहता है कि समय आने पर ही सब कार्य होता है। परन्तु उस समय में भी यदि पुरुषार्थ न हो तो क्या हो जाएगा? आम की गुठली में आम पैदा होने का स्वभाव है, परन्तु क्या बिना पुरुषार्थ के यों ही कोठे में रखी हुई गुठली में आम का पेड़ लग जाएगा? कर्म का फल भी, क्या बिना पुरुषार्थ के यों ही हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहने से मिल जाएगा? संसार में मनुष्य ने जो भी उन्नति की है, वह अपने प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा ही की है। आज का मनुष्य हवा में उड़ रहा है, जल में तैर रहा है, पहाड़ों को काट रहा है, परमाणु और उद्जन बम जैसे महान् आविष्कारों को तैयार करने में सफल हो रहा है। यह सब मनुष्य का अपना पुरुषार्थ नहीं तो क्या है? एक मनुष्य

भूखा है, कई दिन का भूखा है। कोई दयालु सज्जन मिठाई का थाल भरकर सामने रख देता है। वह नहीं खाता है। मिठाई लेकर मुँह में डाल देता है, फिर भी नहीं चबाता है और गले से नीचे नहीं उतारता है। अब कहिए, बिना पुरुषार्थ के क्या होगा? क्या यों ही भूख बुझ जायगी? आखिर मुँह में डाली हुई मिठाई को चबाने का और चबाकर गले के नीचे उतारने का पुरुषार्थ तो करना ही होगा। तभी तो कहा है—
"पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो।"

५. नियति-वाद

नियतिवाद का दर्शन जरा गम्भीर है। प्रकृति के अटल नियमों को नियति कहते हैं। नियतिवाद का कहना है कि—संसार में जितने भी कार्य होते हैं, सब नियति के अधीन होते हैं। सूर्य पूर्व में ही उदय होता है, पश्चिम में क्यों नहीं? कमल जल में ही उत्पन्न हो सकता है, शिला पर क्यों नहीं? पक्षी आकाश में उड़ सकते हैं, गधे, घोड़े क्यों नहीं? हंस श्वेत क्यों हैं? पशु के चार पैर होते हैं, मनुष्य के दो ही क्यों हैं? अग्नि की ज्वाला जलते ही ऊपर को क्यों जाती है? इन सब प्रश्नों का उत्तर केवल यही है कि प्रकृति का जो नियम है, वह अन्यथा नहीं हो सकता। यदि वह अन्यथा होने लगे तो फिर संसार में प्रलय ही हो जाए। सूर्य पश्चिम में उगने लगे, अग्नि शीतल हो जाए, गधे, घोड़े आकाश में उड़ने लगें, तो फिर संसार में कोई व्यवस्था ही न रहे। नियति के अटल सिद्धान्त के समक्ष अन्य सब सिद्धान्त तुच्छ हैं। कोई भी व्यक्ति प्रकृति के अटल नियमों के प्रतिकूल नहीं जा सकता। अतः नियति ही सब से महान् है। कुछ आचार्य नियति का अर्थ होनहार भी करते हैं। जो होनहार है, वह होकर रहती है, उसे

तुमने देखा, उपर्युक्त पाँचों वाद किस प्रकार अपने-अपने विचारों की खींचातान करते हुए दूसरे विचारों का खण्डन करते हैं। इस खण्डन-मण्डन के कारण साधारण जनता में भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गई हैं। वह सत्य के मूल मर्म को समझने में असमर्थ है। भगवान् महावीर ने विचारों के इस संघर्ष को बड़ी अच्छी तरह सुलझाया है। संसार के सामने उन्होंने वह सत्य प्रकट किया, जो किसी का खण्डन नहीं करता, अपितु सबका समन्वय करके जीवन-निर्माण के लिए उपयोगी आदर्श प्रस्तुत करता है।

समन्वय-वाद

भगवान् महावीर का उपदेश है कि पाँचों ही वाद अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं। संसार में जो भी कार्य होता है, वह इन पाँचों के समन्वय से अर्थात् मेल से होता है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि एक ही शक्ति अपने बल पर कार्य सिद्ध कर दे। बुद्धिमान मनुष्य को आग्रह छोड़ कर सब का समन्वय करना चाहिए। बिना समन्वय किए, कार्य में सफलता की आशा रखना दुराशामात्र है। हाँ, आग्रह से कदाग्रह और कदाग्रह से विग्रह पैदा होता है। यह हो सकता है कि किसी कार्य में कोई एक प्रधान हो और दूसरे सब गौण हों। परन्तु यह नहीं हो सकता कि कोई अकेला स्वतन्त्र रूप से कार्य सिद्ध करदे।

भगवान् महावीर का उपदेश पूर्णतया सत्य है। हम इसे समझने के लिए आम बोने वाले माली का उदाहरण ले सकते हैं। माली बाग में आम की गुठली बोता है, यहाँ पाँचों कारणों के समन्वय से ही वृक्ष होगा। आम की गुठली में आम पैदा होने का स्वभाव है, परन्तु बोने का और बोकर रक्षा करने का पुरुषार्थ न हो तो क्या होगा? बोने का पुरुषार्थ भी कर लिया, परन्तु बिना निश्चित काल का परिपाक हुए आम यों ही जल्दी

थोड़ा ही तैयार हो जायगा ? काल की मर्यादा पूरी होने पर भी यदि शुभ कर्म अनुकूल नहीं है, तो फिर भी आम नहीं लगने का। कभी-कभी किनारे आया हुआ जहाज भी डूब जाता है। अब रही, नियति। वह सब कुछ है ही। आम से आम होना प्रकृति का नियम है, इससे कौन इन्कार हो हो सकता है ? और आम होना होता है, तो होता है, नहीं होना है, तो नहीं होता है। हाँ या ना, जो होना है, उसे कोई टाल नहीं सकता।

पढ़ने वाले विद्यार्थी के लिए भी पाँचों आवश्यक हैं। पढ़ने के लिए चित्त की एकाग्रता रूप स्वभाव हो, समय का योग भी दिया जाए, पुरुषार्थ यानी प्रयत्न भी किया जाए, अशुभ कर्म का क्षय तथा शुभ कर्म का उदय भी हो और प्रकृति के नियम नियति एवं भवितव्यता का भी ध्यान रखा जाए; तभी वह पढ़-लिख कर विद्वान् हो सकता है। अनेकान्तवाद के द्वारा किया जाने वाला यह समन्वय ही, वस्तुतः जनता को सत्य का प्रकाश दिखला सकता है।

विचारों के भंवर जाल में आज मनुष्य की बुद्धि फँस रही है। एकान्तवाद का आग्रह लिए वह किसी भी समस्या का समाधान नहीं पा रहा है। समस्या का समाधान पाने के लिए उसे जैनदर्शन के इस अनेकान्तवाद अर्थात् समन्वयवाद को समझना होगा।

* *
*

२३

'अनेकान्तवाद' और 'स्याद्वाद' के नाम से आप परिचित होंगे? किन्तु अनेकान्तवाद का अर्थ क्या है? जीवन के आचार और विचार पक्ष की उलझनों को सुलझाकर हमारे मन, मस्तिष्क को वह किस प्रकार संतुलित करता है—इस कला से आप परिचित नहीं हुए होंगे?
प्रस्तुत निबन्ध में 'अनेकान्तवाद' जैसे गम्भीर विषय को बड़ी ही रोचक और स्पष्ट शैली में समझाया गया है।

अनेकान्तवाद

अनेकान्तवाद जैन-दर्शन की आधार-शिला है। जैन तत्त्व-ज्ञान का महल, इसी अनेकान्तवाद के सिद्धान्त पर अवलम्बित है। वास्तव में अनेकान्तवाद जैन-दर्शन का प्राण है। जैन-धर्म में जब भी, जो भी बात कही गई है, वह अनेकान्तवाद की कसौटी पर अच्छी तरह जाँच परख करके ही कही गई है। दार्शनिक साहित्य में जैन-दर्शन का दूसरा नाम अनेकान्तवादी दर्शन भी है।

अनेकान्तवाद का अर्थ है—प्रत्येक वस्तु का भिन्न-भिन्न दृष्टि बिन्दुओं से विचार करना, परखना, देखना। अनेकान्तवाद का यदि एक ही शब्द में अर्थ समझना चाहें, तो उसे 'अपेक्षावाद' कह सकते हैं। जैन-दर्शन में सर्वथा एक ही दृष्टिकोण से पदार्थ के अवलोकन करने की पद्धति को अपूर्ण एवं अप्रामाणिक समझा जाता है। और एक ही वस्तु में विभिन्न धर्मों को

विभिन्न दृष्टिकोणों से निरीक्षण करने की पद्धति को पूर्ण एवं प्रामाणिक माना गया है। यह पद्धति ही अनेकान्तवाद है।

अनेकान्त और स्याद्वाद

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद एक ही सिद्धान्त के दो पहलू हैं, जैसे एक सिक्के के दो वाजू। इसी कारण सर्वसाधारण दोनों वादों को एक ही समझ लेते हैं। परन्तु ऊपर से एक होते हुए भी दोनों में मूलतः भेद है। अनेकान्तवाद वस्तुदर्शन की विचार पद्धति है, तो स्याद्वाद उसकी भाषा-पद्धति। अनेकान्त दृष्टि को भाषा में उतारना स्याद्वाद है। इसका अर्थ हुआ कि वस्तुस्वरूप के चिन्तन करने की विशुद्ध और निर्दोष शैली अनेकान्तवाद है, और उस चिन्तन तथा विचार को अर्थात् वस्तुगत अनन्त धर्मों के मूल में रही हुई विभिन्न अपेक्षाओं को दूसरों के लिए निरूपण करना, उनका मर्मोद्घाटन करना ही वस्तुतः स्याद्वाद है। स्याद्वाद को 'कथंचित्वाद' भी कहते हैं।

वस्तु अनन्त धर्मात्मक है

जैनधर्म की मान्यता है कि प्रत्येक पदार्थ, चाहे वह छोटा सा रजकरण हो, चाहे महान् हिमालय, अनन्त धर्मों का समूह है। धर्म का अर्थ-गुण है, विशेषता है। उदाहरण के लिए आप फल को ले लीजिए। फल में रूप भी है, रस भी है, गंध भी है, स्पर्श भी है, आकार भी है, भूख बुझाने की शक्ति है, अनेक रोगों को दूर करने की शक्ति है और अनेक रोगों को पैदा करने की शक्ति भी है। कहाँ तक गिनाएँ ? हमारी बुद्धि वहुत सीमित है, अतः हम वस्तु के सव अनन्त धर्मों को विना अनन्त ज्ञान हुए नहीं जान सकते। परन्तु स्पष्टतः प्रतीयमान वहुत से धर्मों को तो अपने वुद्धि वल के अनुसार जान ही सकते हैं।

हाँ तो पदार्थ को केवल एक पहलू से, केवल एक धर्म से जानने का या कहने का आग्रह मत कीजिए। प्रत्येक पदार्थ को पृथक्-पृथक् पहलुओं से देखिए और कहिए। इसी का नाम अनेकान्तवाद है। अनेकान्तवाद हमारे दृष्टिकोण को विस्तृत करता है, हमारी विचार-धारा को पूर्णता की ओर ले जाता है।

'भी' और 'ही'

फल के सम्बन्ध में जब हम कहते हैं कि—फल में रूप भी है, रस भी है, गंध भी है, स्पर्श भी है आदि; तब तो हम अनेकान्तवाद और स्याद्वाद का उपयोग करते हैं और फल का यथार्थ निरूपण करते हैं। इसके विपरीत जब हम एकांत आग्रह में आकर यह कहते हैं कि फल में केवल रूप ही है, रस ही है, गंध ही है, स्पर्श ही है, आदि; तब हम मिथ्या एकान्तवाद का प्रयोग करते हैं। 'भी' में दूसरे धर्मों की स्वीकृति का स्वर छिपा हुआ है, जब कि 'ही' में दूसरे धर्मों का स्पष्टतः निषेध है। रूप भी है—इसका यह अर्थ है कि फल में रूप भी है और दूसरे रस आदि धर्म भी हैं। और रूप ही है, इसका यह अर्थ है कि फल में मात्ररूप ही है, रस आदि कुछ नहीं। यह 'भी' और 'ही' का अन्तर ही स्याद्वाद और मिथ्यावाद है। 'भी' स्याद्वाद है, तो 'ही' मिथ्यावाद।

एक आदमी बाजार में खड़ा है। एक ओर से एक लड़का आया। उसने कहा—'पिताजी।' दूसरी ओर से एक बूढ़ा आया। उसने कहा—'पुत्र।' तीसरी ओर से एक अधेड़ व्यक्ति आया। उसने कहा—'भाई।' चौथी ओर से एक लड़का आया। उसने कहा—'मास्टर जी।' मतलब यह है कि—उसी आदमी

को कोई चाचा कहता है, कोई ताऊ कहता है, कोई मामा कहता है, कोई भानजा कहता है। सब झगड़ते हैं—यह तो पिता ही है; पुत्र ही है, भाई ही है, मास्टर ही है, और चाचा, ताऊ, मामा या भानजा ही है। अब बताइए, कैसे निर्णय हो? उनका यह संघर्ष कैसे मिटे? वास्तव में वह आदमी है क्या? यहाँ पर स्याद्वाद को न्यायाधीश बनाना पड़ेगा। स्याद्वाद पहले लड़के से कहता है—हाँ, यह पिता भी है। तुम्हारे लिए तो पिता है, चूँकि तुम इसके पुत्र हो। और अन्य लोगों का तो पिता नहीं है। बूढ़े से कहता है—हाँ, यह पुत्र भी है। तुम्हारी अपनी अपेक्षा से ही यह पुत्र है, सब लोगों की अपेक्षा से तो नहीं। क्या यह सारी दुनियाँ का का पुत्र है? मतलब यह है कि वह आदमी अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता है, अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र है, अपने भाई की अपेक्षा से भाई है, अपने विद्यार्थी की अपेक्षा से मास्टर है। इसी प्रकार अपनी-अपनी अपेक्षा से चाचा; ताऊ, मामा, भानजा, पति, मित्र सब हैं। एक ही आदमी में अनेक धर्म हैं, परन्तु भिन्न-भिन्न अपेक्षा से। यह नहीं कि उसी पुत्र की अपेक्षा पिता, उसी की अपेक्षा पुत्र, उसी की अपेक्षा भाई, मास्टर, चाचा, ताऊ, मामा, और भानजा हो। ऐसा नहीं हो सकता। यह पदार्थ विज्ञान के नियमों के विरुद्ध है।

स्याद्वाद को समझने के लिए इन उदाहरणों पर और ध्यान दीजिए—एक आदमी काफी ऊँचा है, इसलिए कहता है कि मैं बड़ा हूँ। हम पूछते हैं—'क्या आप पहाड़ से भी बड़े हैं?' वह झट कहता है—नहीं साहब, पहाड़ से तो मैं छोटा हूँ। मैं तो इन साथ के आदमियों की अपेक्षा से कह रहा था कि मैं बड़ा हूँ।' अब एक दूसरा आदमी है। वह अपने साथियों से नाटा है, इसलिए कहता है कि—'मैं छोटा हूँ।' हम पूछते हैं—'क्या आप चींटी से भी छोटे हैं?' वह झट उत्तर देता है—'नहीं साहब,

चींटी से तो मैं बड़ा हूँ। मैं तो अपने इन कद्दावर साथियों की अपेक्षा से कह रहा था कि मैं छोटा हूँ।'

इस उदाहरण से अपेक्षावाद का मूल समझ में आ गया होगा कि हर एक चीज छोटी भी है और बड़ी भी। अपने से बड़ी चीजों की अपेक्षा छोटी है और अपने से छोटी चीजों की अपेक्षा बड़ी है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के दो पहलू होते हैं और उन्हें समझने के लिए अपेक्षावाद का यह सिद्धान्त उन पर लागू करना होगा। दर्शन की भाषा में इसे अनेकान्तवाद कहते हैं।

सम्पूर्ण हाथी का दर्शन

अनेकान्तवाद को समझने के लिए प्राचीन आचार्यों ने हाथी का उदाहरण दिया है। एक गाँव में जन्म के अन्धे छह मित्र रहते थे। सौभाग्य से एक दिन वहाँ एक हाथी आ गया। गाँव वालों ने कभी हाथी देखा न था, धूम मच गई। अन्धों ने हाथी का आना सुना तो देखने दौड़े। अन्धे तो थे ही, देखते क्या? हर एक ने हाथ से टटोलना शुरू किया। किसी ने पूंछ पकड़ी तो किसी ने सूंड़, किसी ने कान पकड़ा तो किसी ने दाँत, किसी ने पैर पकड़ा तो किसी ने पेट। एक-एक अंग को पकड़ कर हर एक ने समझ लिया कि मैंने हाथी देख लिया है। अपने स्थान पर आए तो हाथी के सम्बन्ध में चर्चा छिड़ी।

प्रथम पूंछ पकड़ने वाले ने कहा—"भई, हाथी तो मैंने देख लिया, बिल्कुल मोटे रस्से-जैसा था।"

सूंड़ पकड़ने वाले दूसरे अन्धे ने कहा—"झूठ, बिल्कुल झूठ! हाथी कहीं रस्से-जैसा होता है। अरे, हाथी तो मूसल जैसा था।"

तीसरा कान पकड़ने वाला अन्धा बोला—"आँखें काम नहीं देतीं तो क्या हुआ, हाथ तो धोखा नहीं दे सकते। मैंने हाथी को टटोल कर देखा था, वह ठीक छाज (सूप) जैसा था।"

चौथे दाँत पकड़ने वाले सूरदास बोले—"अरे तुम सब झूठी गप्पें मारते हो ? हाथी तो कुश यानी कुदाल-जैसा था।"

पाँचवें पैर पकड़ने वाले महाशय ने कहा—"अरे कुछ भगवान् का भी भय रखो। नाहक क्यों झूठ बोलते हो ? हाथी तो खम्भे जैसा था। मैंने खूब टटोल-टटोल कर देखा है।"

छठे पेट पकड़ने वाले सूरदास गरज उठे—"अरे क्यों बकवास करते हो ? पहले पाप किए तो अन्धे हुए, अब व्यर्थ का झूठ बोल कर क्यों उन पापों की जड़ों में पानी सींचते हो ? हाथी तो भाई मैं भी देखकर आया हूँ। वह अनाज भरने की कोठी-जैसा है।"

अब क्या था, आपस में वाग्युद्ध ठन गया। सब एक दूसरे की भर्त्सना करने लगे और लगे गालीगलौज करने।

सौभाग्य से वहाँ एक आँखों वाला सत्पुरुष आ गया। अन्धों की तू-तू मैं-मैं सुनकर उसे हँसी आगई। पर, दूसरे ही क्षण उसका चेहरा गम्भीर हो गया। उसने सोचा "भूल हो जाना अपराध नहीं है, किन्तु किसी की भूल पर हँसना अपराध है।" उसका हृदय करुणार्द्र हो गया। उसने कहा—"बन्धुओ, क्यों झगड़ते हो ? जरा मेरी भी बात सुनो। तुम सब सच्चे भी हो और झूठे भी। तुम में से किसी ने भी हाथी को पूरा नहीं देखा है। एक-एक अवयव को लेकर हाथी की पूर्णता का बखान कर रहे हो। कोई किसी को झूठा मत कहो, एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करो। हाथी रस्से-जैसा भी है, पूँछ की

दृष्टि से। हाथी मूसल-जैसा भी है, सूँड की अपेक्षा से। हाथी छाज-जैसा भी है, कान की ओर से। हाथी कुदाल-जैसा भी है, दाँतों के लिहाज से। हाथी खम्भे-जैसा भी है, पैरों की अपेक्षा से। हाथी अनाज की कोठी-जैसा भी है; पेट की दृष्टि से।" इस प्रकार समझा-बुझाकर उस सज्जन ने एकान्त की आग में अनेकान्त का पानी डाला। अन्धों को अपनी भूल समझ में आई। और सब शान्त होकर कहने लगे—हाँ, भाई ! तुमने ठीक समझाया। सब अंगों को मिलाने से ही हाथी बनता है, एक-एक अलग-अलग अंग से नहीं !

वस्तुतः अन्धों ने हाथी के एक अंश को देखा और उसी पर जिद्द करने लग गए। आँख वाले ने सम्पूर्ण हाथी के रूप को उन्हें समझाया तो उनका विग्रह समाप्त हो गया।

संसार में जितने भी एकान्तवादी आग्रही सम्प्रदाय हैं, वे पदार्थ के एक-एक अंश अर्थात् एक-एक धर्म को ही पूरा पदार्थ समझते हैं। इसीलिए दूसरे धर्म वालों से लड़ते-झगड़ते हैं। परन्तु वास्तव में वह पदार्थ नहीं, पदार्थ का एक अंश-मात्र है। स्याद्वाद आँखों वाला दर्शन है। अतः वह इन एकान्तवादी अन्धे दर्शनों को समझाता है कि तुम्हारी मान्यता किसी एक दृष्टि से ही ठीक हो सकती है, सब दृष्टि से नहीं। अपने एक अंश को सर्वथा सब अपेक्षा से सत्य, और दूसरे अंशों को असत्य कहना, बिलकुल अनुचित है। स्याद्वाद इस प्रकार एकान्त-वादी दर्शन की भूल बताकर पदार्थ के सत्य स्वरूप को आगे रखता है और प्रत्येक सम्प्रदाय को किसी एक अपेक्षा से ठीक बतलाने के कारण साम्प्रदायिक कलह को शान्त करने की क्षमता रखता है। केवल साम्प्रदायिक कलह को ही नहीं, यदि स्याद्वाद का जीवन के हर क्षेत्र में प्रयोग किया जाए तो क्या परिवार, क्या समाज, और क्या राष्ट्र, सभी में प्रेम एवं सद्-

भावना के सुखद वातावरण का निर्माण हो सकता है। कलह और संघर्ष का बीज एक दूसरे के दृष्टिकोण को न समझने में ही है। स्याद्वाद दूसरे के दृष्टिकोण को समझने में सहायक होता है।

यहाँ तक स्याद्वाद को समझने के लिए स्थूल लौकिक उदाहरण ही काम में लाए गए हैं। अब दार्शनिक उदाहरणों का मर्म भी समझ लेना चाहिए। यह विषय जरा गम्भीर है, अतः यहाँ सूक्ष्म निरीक्षण-पद्धति से काम लेना ठीक रहेगा।

नित्य और अनित्य

अच्छा, तो पहले नित्य और अनित्य के प्रश्न को ही ले लें। जैन-धर्म कहता है कि प्रत्येक पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी है। साधारण लोग इस बात पर घपले में पड़ जाते हैं कि जो नित्य है, वह अनित्य कैसे हो सकता है? और जो अनित्य है, वह नित्य कैसे हो सकता है? परन्तु जैन-धर्म अनेकान्तवाद के द्वारा सहज ही में इस समस्या को सुलझा देता है।

कल्पना कीजिए—एक घड़ा है। हम देखते हैं कि जिस मिट्टी से घड़ा बना है, उसी से सिकोरा, सुराही आदि और भी कई प्रकार के बर्तन बनते हैं। हाँ, तो यदि उस घड़े को तोड़ कर हम उसी की मिट्टी से बनाया गया कोई दूसरा बर्तन किसी को दिखलाएँ, तो वह कदापि उसको घड़ा नहीं कहेगा। उसी घड़े की मिट्टी के होते हुए भी उसको घड़ा न कहने का कारण क्या है? कारण और कुछ नहीं, यही है कि अब उसका आकार घड़े-जैसा नहीं है।

इस पर से यह सिद्ध हो जाता है कि घड़ा स्वयं कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है, बल्कि मिट्टी का एक आकार-विशेष है। परन्तु वह आकार-विशेष मिट्टी से सर्वथा भिन्न नहीं है, उसी का एक रूप है। क्योंकि भिन्न-भिन्न आकारों में परिवर्तित हुई मिट्टी ही

जब घड़ा, सिकोरा, सुराही आदि भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित होती है, तो इस स्थिति में विभिन्न आकार मिट्टी से सर्वथा भिन्न कैसे हो सकते हैं ? इससे स्पष्ट हो जाता है कि घड़े का आकार और मिट्टी दोनों ही घड़े के अपने निज स्वरूप हैं।

अब देखना है कि इन दोनों स्वरूपों में विनाशी स्वरूप कौन-सा है और ध्रुव कौन-सा है ? यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है कि घड़े का वर्तमान में दिखने वाला आकार-स्वरूप विनाशी है। क्योंकि वह बनता और बिगड़ता है। वह पहले नहीं था, बाद में भी नहीं रहेगा। जैन-दर्शन में इसे पर्याय कहते हैं। और घड़े का जो दूसरा मूल स्वरूप मिट्टी है, वह अविनाशी है, क्योंकि उसका कभी नाश नहीं होता। घड़े के बनने से पहले भी मिट्टी मौजूद थी, घड़े के बनने पर भी वह मौजूद है, और घड़े के नष्ट हो जाने पर भी वह मौजूद रहेगी। मिट्टी अपने आप में पुद्गल-स्वरूपेण स्थायी तत्त्व है, उसे कुछ भी बनना-बिगड़ना नहीं है। जैन-दर्शन में इसे द्रव्य कहते हैं।

इतने विवेचन पर से अब यह स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि घड़े का एक स्वरूप विनाशी है और दूसरा अविनाशी। एक जन्म लेता है और नष्ट हो जाता है, दूसरा सदा सर्वदा बना रहता है, नित्य रहता है। अतएव अब हम अनेकान्तवाद की दृष्टि से यों कह सकते हैं कि घड़ा अपने आकार की दृष्टि से=विनाशी रूप से अनित्य है। और अपने मूल मिट्टी की दृष्टि से=अविनाशी रूप से नित्य है।[1] जैन-दर्शन

१. मिट्टी का उदाहरण मात्र समझने के लिए स्थूल रूप से दिया है। वस्तुतः मिट्टी भी नित्य नहीं है। नित्य तो वह पुद्गल परमाणु-पुंज है, जिससे मिट्टी का निर्माण हुआ है।

की भाषा में कहें तो यों कह सकते हैं कि घड़ा अपनी पर्याय की दृष्टि से अनित्य है और द्रव्य की दृष्टि से नित्य है। इस प्रकार एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी जैसे परिलक्षित होने वाले नित्यता और अनित्यता रूप धर्मों को सिद्ध करने वाला सिद्धान्त ही अनेकान्तवाद है।

त्रिपदी

अच्छा, इसी विषय पर जरा और विचार कीजिए। जगत के सब पदार्थ उत्पत्ति, स्थिति और विनाश—इन तीन धर्मों से युक्त हैं। जैन-दर्शन में इनके लिए क्रमशः उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसे त्रिपदी भी कहा जाता है। आप कहेंगे—एक वस्तु में परस्पर विरोधी धर्मों का सम्भव कैसे हो सकता है ? इसे समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए। एक सुनार के पास सोने का कंगन है। वह उसे तोड़कर, गलाकर हार बना लेता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि कंगन का नाश होकर हार की उत्पत्ति हो गई। परन्तु इससे आप यह नहीं कह सकते कि कंगन बिल्कुल ही नया बन गया। क्योंकि कंगन और हार में जो सोने के रूप में पुद्‌गल परमाणु-स्वरूप मूल तत्त्व है, वह तो ज्यों-का त्यों अपनी उसी स्थिति में विद्यमान है। विनाश और उत्पत्ति केवल आकार की ही हुई है। पुराने आकार का नाश हुआ है और नये आकार की उत्पत्ति हुई है। इस उदाहरण के द्वारा सोने में कंगन के आकार का नाश, हार के आकार की उत्पत्ति, और सोने की तदवस्थस्थिति-ये तीनों धर्म भली भाँति सिद्ध हो जाते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में उत्पत्ति, स्थिति और विनाश-ये तीनों गुण स्वभावतया रहते हैं। कोई भी वस्तु जब नष्ट हो जाती है, तो इससे यह न समझना चाहिए कि उसके मूल तत्त्व

ही नष्ट हो गए। उत्पत्ति और विनाश तो उसके स्थूल रूप के होते हैं। स्थूल वस्तु के नष्ट हो जाने पर भी उसके सूक्ष्म परमाणु तो सदा स्थित ही रहते हैं। वे सूक्ष्म परमाणु, दूसरी वस्तु के साथ मिल कर नवीन रूपों का निर्माण करते हैं। वैशाख और ज्येष्ठ के महीने में सूर्य की किरणों से जब तालाब आदि का पानी सूख जाता है, तब यह समझना भूल है कि पानी का सर्वथा अभाव होगया है, उसका अस्तित्व पूर्णतया नष्ट हो गया है। पानी चाहे अब भाप या गैस आदि किसी भी रूप में क्यों न हो, पर, वह विद्यमान अवश्य है। यह हो सकता है कि उसका वह सूक्ष्म रूप हमें दिखाई न दे; परन्तु यह तो कदापि सम्भव नहीं कि उसकी सत्ता ही नष्ट हो जाय, सर्वथा अभाव ही हो जाय। अतएव यह सिद्धान्त अटल है कि न तो कोई वस्तु मूल रूप से अपना अस्तित्व खोकर सर्वथा नष्ट ही होती है और न शून्य-रूप अभाव से भावस्वरूप होकर नवीन रूप में सर्वथा उत्पन्न ही होती है। आधुनिक पदार्थ-विज्ञान भी इसी सिद्धान्त का समर्थन करता है। वह कहता है कि—"प्रत्येक वस्तु मूल प्रकृति के रूप में ध्रुव है—स्थिर है, और उससे उत्पन्न होने वाले अपरापर दृश्यमान पदार्थ उसके भिन्न-भिन्न रूपान्तर मात्र हैं।"

नित्यानित्यवाद की मूल दृष्टि

हाँ, तो उपर्युक्त उत्पत्ति, स्थिति और विनाश—इन तीन गुणों में से जो मूल वस्तु सदा स्थित रहती है; उसे जैन-दर्शन द्रव्य कहते हैं; और जो उत्पन्न एवं विनष्ट होती रहती हैं, उसे पर्याय कहते हैं। कंगन से हार बनने वाले उदाहरण में—सोना द्रव्य है, और कंगन तथा हार पर्याय हैं। द्रव्य की अपेक्षा

से हर एक वस्तु नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ को न एकान्त नित्य और न एकान्त अनित्य, अपितु नित्यानित्य उभय रूप से मानना ही अनेकान्त-वाद है।

'अस्ति-नास्तिवाद'

अनेकान्त सिद्धान्त सत् और असत् के सम्बन्ध में भी उभय-स्पर्शी दृष्टि रखता है। कितने ही सम्प्रदाय कहते हैं—'वस्तु सर्वथा सत् है।' इसके विपरीत दूसरे सम्प्रदाय कहते हैं कि 'वस्तु सर्वथा असत् है।' दोनों ओर से संघर्ष होता है, वाग्युद्ध होता है। अनेकान्तवाद ही इस संघर्ष का सही समाधान कर सकता है।

अनेकान्तवाद कहता है कि प्रत्येक वस्तु सत् भी है और असत् भी। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ 'है' भी और 'नहीं' भी। अपने निजस्वरूप से है और दूसरे परस्वरूप से नहीं है। अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता पितारूप से सत् है, और पर-पुत्र की अपेक्षा से पिता पितारूप से असत् है। यदि वह परपुत्र की अपेक्षा से भी पिता ही है, तो सारे संसार का पिता हो जायगा, और यह असम्भव है।

आपके सामने एक कुम्हार है। उसे कोई सुनार कहता है। अब यदि वह यह कहे कि मैं तो कुम्हार हूं, सुनार नहीं हूं, तो क्या अनुचित कहता है? कुम्हार की दृष्टि से यद्यपि वह सत् है, तथापि सुनार की दृष्टि से वह असत् है।

कल्पना कीजिए—सौ घड़े रखे हैं। घड़े की दृष्टि से तो वे सब घड़े हैं, इसलिए सत् हैं। परन्तु घट से भिन्न जितने भी पट आदि अघट हैं, उनकी दृष्टि से असत् है। प्रत्येक घड़ा भी अपने गुण, धर्म और स्वरूप से ही सत् है; किन्तु अन्य घड़ों के गुण, धर्म और स्वरूप से सत् नहीं है। घड़ों में भी आपस में भिन्नता है न? एक मनुष्य अकस्मात् किसी दूसरे के घड़े को उठा लेता

और फिर पहिचानने पर यह कह कर कि यह मेरा नहीं है,
पस रख देता है। इस दशा में घड़े में असत् नहीं तो क्या है?
रा नहीं है'—इसमें मेरा के आगे जो 'नहीं' शब्द है, वही
सत् का अर्थात् नास्तित्व का सूचक है। प्रत्येक वस्तु का
स्तित्व अपनी सीमा में है, सीमा से बाहर नहीं। अपना स्वरूप
पनी सीमा है, और दूसरों का स्वरूप अपनी सीमा से बाहर
, पर सीमा है। यदि विश्व की हर एक वस्तु, हर एक वस्तु
रूप में सत् हो जाए तो फिर संसार में कोई व्यवस्था ही न
हे। दूध, दूध रूप में भी सत् हो, दही के रूप में भी सत् हो,
छाछ के रूप में भी सत् हो, पानी के रूप में भी सत् हो, तब तो
दूध के बदले में दही, छाछ, या पानी हर कोई ले-दे सकता है।
याद रखिए—दूध, दूध के रूप में सत् है, दही आदि के रूप में
असत् है। क्योंकि स्वरूप सत् है, पर-रूप असत्।

स्याद्वाद का अमर सिद्धान्त दार्शनिक जगत् में बहुत ऊँचा
सिद्धान्त माना गया है। महात्मा गांधी ने स्याद्वाद सिद्धान्त की
मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। पाश्चात्य विद्वान् डा० थामस आदि
का भी कहना है कि—"**स्याद्वाद का सिद्धान्त बड़ा ही गम्भीर है।
यह वस्तु की भिन्न-भिन्न स्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है।**"

वस्तुतः स्याद्वाद सत्य-ज्ञान की कुञ्जी है। आज संसार में
जो सब ओर धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि वैर-विरोध का
बोलबाला है वह स्याद्वाद के द्वारा दूर हो सकता है। दार्शनिक
क्षेत्र में स्याद्वाद वह सम्राट् है जिसके सामने आते ही कलह, ईर्ष्या,
अनुदारता, साम्प्रदयिकता और संकीर्णता आदि दोष भयभीत
होकर भाग जाते हैं। जब कभी विश्व में शान्ति का सर्वतोभद्र
सर्वोदय राज्य स्थापित होगा, तो वह स्याद्वाद के द्वारा ही
होगा—यह बात अटल है, अचल है।

*

२४

'संसार का रचयिता कौन है ?'—यह प्रश्न बड़ा ही उलझा हुआ है।
विश्व के विभिन्न धर्म और दर्शनों ने ईश्वर को संसार का रचयिता मानकर इस विकट पहेली को सुलझाना चाहा, किन्तु प्रश्न पहले से भी अधिक उलझ गया।

ईश्वर को जगत् का कर्ता मानने से क्या-क्या उलझनें आती हैं, और उसे कर्ता न मानने से किस प्रकार इस प्रश्न का समाधान होता है—जैन दृष्टि से इस विषय की रोचक तथा दार्शनिक चर्चा प्रस्तुत निबन्ध में की गई है।

ईश्वर जगत्कर्ता नहीं

संसार के धर्मों में वैदिक, मुसलमान और ईसाई आदि धर्म ईश्वर को जगत का कर्ता-हर्ता मानते हैं। यद्यपि जगत् के वनाने की प्रक्रिया के सम्वन्ध में परस्पर काफी मत-भेद हैं, परन्तु जहाँ ईश्वर को जगत् कर्ता मानने का प्रश्न है, वहाँ सव एकमत हो जाते हैं।

जैन-धर्म का मार्ग इन सवसे भिन्न है। वह जगत् को अनादि अनन्त मानता है। उसका विश्वास है कि जगत् न कभी वनकर तैयार हुआ और न कभी नष्ट ही होगा। पदार्थों के रूप वदल जाते हैं, परन्तु मूलतः किसी भी पदार्थ का नाश नहीं होता। इसी सिद्धान्त के आधार पर जगत् का रूप वदल

जाता है, समुद्र की जगह स्थल और स्थल की जगह समुद्र हो जाता है, उजड़े हुए भूखण्ड जनाकीर्ण हो जाते हैं, और जनाकीर्ण प्रदेश विलकुल ऊजड़, सुनसान वन जाते हैं। खण्ड-प्रलय होता रहता है, परन्तु महा-प्रलय होकर एक दिन सब कुछ लुप्त हो जायगा, और फिर नये सिरे से जगत् का निर्माण होगा—यह कथमपि सम्भव नहीं है।

ईश्वर को किसने बनाया ?

तथापि हमारे वहुत से पड़ौसी धार्मिक जगत् का उत्पन्न होना मानते हैं। उन्हें यह विश्वास ही नहीं आता कि विना वनाए भी कोई चीज अस्तित्व रख सकती है? अतएव वे कहते हैं कि 'जगत् का वनाने वाला ईश्वर है।'

इस पर जैन-दर्शन पूछना चाहता है कि क्या कोई भी पदार्थ विना वनाए अपना अस्तित्व नहीं रख सकता है? यदि नहीं रख सकता तो फिर ईश्वर का अस्तित्व किस प्रकार है? उसे किसने वनाया? यदि ईश्वर को किसी ने नहीं वनाया, और फिर भी वह अपने आप ही अनादि अनन्त काल से अपना अस्तित्व टिकाए रख सकता है, तो इसी प्रकार जगत् भी अपने अस्तित्व में किसी उत्पादक की अपेक्षा नहीं रखता। वह भी ईश्वर के समान विना किसी निर्माण के स्वतः सिद्ध है।

यह तो सभी मानते हैं कि ईश्वर निराकार है। उसके कोई हाथ-पैर एवं शरीर नहीं है। जैन-दर्शन का तर्क है कि विना शरीर और विना हाथ-पैर के यह जगत् कैसे वन सकता है? हम देखते हैं कि कुम्हार, सुनार आदि कर्ता हाथ आदि से ही वस्तु का निर्माण करते हैं। कोई भी कर्ता शरीर के विना क्या कर सकता है?

'खुदा' अब क्यों नहीं बोलता ?

मुसलमान कहते हैं कि खुदा, अपने हुक्म से जगत् पैदा करता है। खुदा ने कुन कहा और दुनियाँ बनकर तैयार हो गई। हम पूछते हैं–'क्या खुदा के शरीर है? क्या खुदा के जुबान है? क्या खुदा के मुँह है?' मुसलमान भाई कहते हैं कि 'खुदा के शरीर, मुँह, जुबान आदि कुछ नहीं है।' हम आश्चर्य में हैं कि जब मुँह ही नहीं है, जुबान ही नहीं तो फिर कुन कहा कैसे? शब्द बोलने के लिए तो मुँह की आवश्यकता है। दूसरी ओर जगत् के रूप में तब्दील होने वाले परमाणु तो जड़ हैं, बिना कान के हैं। उन्होंने खुदा की आज्ञा को सुना भी कैसे? और यदि वह बोल सकता है, तो अब क्यों नहीं बोलता है? आज प्रार्थना करते-करते लोग पागल हुए जा रहे हैं और वह बोलता ही नहीं। यदि वह बोल पड़े तो आज ही हजारों काफिर मोमिन हो जायँ। कितना बड़ा धर्म और परोपकार का काम होगा। क्या यह सब खुदा को पसन्द नहीं ?

दुःखमय संसार का निर्माता, दयालु ईश्वर ?

वैदिक धर्म की शाखा वाले सनातनी और आर्यसमाजी बन्धु मानते हैं कि ईश्वर ने इच्छा-मात्र से जगत् का निर्माण कर दिया। परमात्मा को ज्यों ही इच्छा पैदा हुई कि दुनियाँ तैयार हो, त्यों ही भूमि और आकाश, सूर्य और चाँद, नदी और समुद्र आदि बनकर तैयार होगए।

जैन-दर्शन इस पर भी तर्क करता है कि ईश्वर के मन तो है नहीं, फिर वह इच्छा कैसे कर सकता है? इच्छा किसी प्रयोजन के लिए होती है। जगत के बनाने में, ईश्वर का क्या प्रयोजन है? ईश्वर दयालु है, परमपिता है। वह सिंह, सर्प आदि दुष्ट हिंसक पशुओं से भरे हुए; रोग, शोक, द्रोह, एवं दुर्व्यसन आदि

से घिरे हुए; और चोरी, व्यभिचार, लूट, हत्या आदि अपराधों से व्याप्त दुःख-पूर्ण संसार के निर्माण की इच्छा कैसे कर सकता है ? आप कहेंगे—'यह ईश्वर की लीला है।' भला यह लीला कैसी है ? विचारे संसारी जीव रोग-शोक आदि से भयंकर त्रास पाएँ, अकाल और बाढ़ आदि के समय नरक-जैसा हाहाकार मच जाए ! और वह ईश्वर, यह सब अपनी लीला करे ? कोई भी भला आदमी इस लीला को देखने के लिए तैयार नहीं हो सकता ! यदि परमात्मा दयालु होकर संसार का निर्माण करता, तो वह दीन-दुःखी और दुराचारी जीवों को क्यों पैदा करता ? आज जिसे दुःखी देखकर हमारा हृदय भी भर आता है, उसे बनाते समय और इस दुःखद परिस्थिति में रखते समय यदि ईश्वर को दया नहीं आई, तो उसे हम दयालु कैसे कह सकते हैं ?

ईश्वर पापी को रोकता क्यों नहीं ?

सनातन धर्म में कहा जाता है कि जब संसार में पापी और दुराचारी बढ़ जाते हैं, तो उनका नाश करने के लिए अवतार धारण करता है। आर्य-समाजी बन्धु भी यह मानते हैं कि ईश्वर अवतार तो धारण नहीं करता, परन्तु दुष्टों को दण्ड अवश्य देता है। जैन-दर्शन पूछता है कि ईश्वर तो सर्वज्ञ है। वह जानता ही है कि ये पापी और दुराचारी बनकर मेरी सृष्टि को तंग करेंगे, फिर उन्हें पैदा ही क्यों करता है ? जहर का वृक्ष पहले लगाना, और फिर उसे काटना, यह कहाँ की बुद्धिमत्ता है ? कोई भी बुद्धिमान मनुष्य यह नहीं करेगा कि पहले व्यर्थ ही कीचड़ में वस्त्र खराब करे और फिर उसे धोए।

दूसरी बात इस सम्बन्ध में यह है कि—क्या वे पापी, ईश्वर से भी बढ़कर बलवान हैं ? क्या ईश्वर उनको दुराचार

करने से रोक नहीं सकता ? जो ईश्वर इच्छा-मात्र से इतना वड़ा विराट् जगत् वना सकता है, क्या वह अपनी प्रजा को दुराचारी से सदाचारी नहीं वना सकता ? यदि वह कुछ भी दया रखता होता तो अवश्य ही अपनी शक्ति का उपयोग दुष्टों को सज्जन वनाने में करता। यह कहाँ का न्याय है कि पाप करते समय तो अपराधियों को रोकना नहीं, परन्तु वाद में उन्हें दण्ड देना, नष्ट करना। उस सर्वशक्तिमान ने जीवों में पहले दुराचार करने की वुद्धि ही क्यों उत्पन्न होने दी ? आप कहेंगे—ईश्वर ने जीवों को कर्म करने में स्वतन्त्रता दे रक्खी है; अतः वह नहीं रोक सकता। वाह भाई, यह भी कोई स्वतन्त्रता है ? सदाचार के लिए स्वतन्त्रता होती है या पापाचार के लिए ? क्या कोई न्यायी प्रजा-वत्सल शासक ऐसा करेगा कि पहले तो प्रजा को स्वतन्त्र रूप से जान-बूझकर चोरी और दुराचार करने दे, और फिर उन्हें दण्ड दे कि तुमने चोरी क्यों की ? दुराचार क्यों किया ? आज के प्रगतिशील युग में तो इस प्रकार का वुद्धू शासक एक दिन भी गद्दी पर नहीं टिक सकता।

वीतराग किसी को सुखी और दुःखी नहीं करता

ईश्वर, राग और द्वेष से सर्वथा रहित है। जव राग-द्वेप से सर्वथा रहित है, तो संसार वनाने के झंझट में क्यों पड़ता है ? राग-द्वेष से रहित वीतराग पुरुष सृष्टि को वनाने और विगाड़ने के खेल में पड़ना कभी पसन्द नहीं कर सकता। संसार की रचना में तो सदा सर्वत्र राग-द्वेष का सामना करना पड़ेगा। किसी को सुखी वनाना होगा, किसी को दुःखी। किसी को धनी वनाना होगा, किसी को निर्धन। किसी को काश्मीर जैसी स्वर्गभूमि रहने को देगा, किसी को जलता हुआ अरविस्तान। विना रागद्वेप के यह भेद-वुद्धि कैसे होगी ?

यदि आप यह कहें कि वह अपनी इच्छा से नहीं करता। पूछते हैं—किसकी इच्छा से करता है? यदि किसी दूसरे इच्छा से जबर्दस्ती ईश्वर को इस अभद्र कार्य में संलग्न ना पड़ता है तो फिर वह परतन्त्र, ईश्वर ही कैसे रहा? अब तो वह ईश्वर से जबर्दस्ती काम कराने वाली शक्ति ही ईश्वर कहलाएगी? दूसरी बात यह है कि ईश्वर कृतकृत्य है। कृतकृत्य उसे कहते हैं, जिसे कोई कार्य करना शेष न रहा हो। यदि संसार के कार्य ईश्वर को ही करने हैं, तो वह कृतकृत्य नहीं रह सकता। वह भी फिर संसारी जीवों के समान ही उलझन में फँसा रहने वाला साधारण प्राणी हो जायगा।

आप यहाँ फिर वही पुराना तर्क उपस्थित करेंगे कि—ईश्वर स्वयं कार्य नहीं करता। वह तो जीवों का जैसा कर्म होता है, उसी के अनुसार फल देने आदि का कार्य करता है।' यह तर्क मूर्खों के लिए हो सकता है, परन्तु जरा भी बुद्धि से काम लिया जाए, तो इस तर्क का खोखलापन अपने आप प्रकट हो जाता है। एक सुन्दर उदाहरण देकर हम इस तर्क का उत्तर देंगे।

अपराधी कौन?

एक धनी आदमी है। उसने कुछ ऐसा कर्म किया कि जिसका फल उसका धन अपहरण होने से मिल सकता है। ईश्वर स्वयं तो उसका धन चुराने के लिए आता नहीं। अब किससे चुराए? हाँ, तो किसी चोर के द्वारा उसका धन चुराता है। ऐसी स्थिति में, जबकि एक चोर ने एक धनी का धन चराया तो क्या हुआ? कोई भी विचारक उत्तर दे सकता है कि इस धनापहरण-क्रिया से धनी को तो पूर्वकृत कर्म का फल मिला और चोर ने नवीन कर्म किया। इस नवीन कर्म का

फल ईश्वर ने न्यायाधीश के द्वारा चोर को जेल पहुँचा कर दिलवाया। अब बताइए कि चोर ने जो धनी का धन चुराने की चेष्टा की, वह अपनी स्वतन्त्रता से की ? अथवा ईश्वर की प्रेरणा से की ? यदि स्वतन्त्रता से की है, और इसमें ईश्वर की कुछ भी प्रेरणा नहीं है, तो फिर धनी को जो कर्म का फल मिला, वह अपने आप मिला, ईश्वर का दिया हुआ नहीं मिला। यदि ईश्वर की प्रेरणा से चोर ने धन चुराया तो वह स्वयं कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं रहा, निर्दोष हुआ। अब जो ईश्वर न्यायाधीश के द्वारा चोर को चोरी का दण्ड दिलवाता है, वह किस न्याय के आधार पर दिलवाता है ? पहले तो स्वयं चोरी करवाना और फिर स्वयं ही उसको दण्ड दिलवाना, यह किस दुनिया का न्याय है ?

यह एक उदाहरण है। इस उदाहरण पर से ही विवाद का निर्णय हो जाता है। यदि ईश्वर को संसार की खट-पट में पड़ने वाला और कर्म-फल का देने वाला मानेंगे, तो संसार में जितने भी अत्याचार-दुराचार होते हैं, उन सबका करने वाला ईश्वर ही ठहरेगा। इसके लिए प्रबल प्रमाण यह है कि जितने भी कर्म-फल मिल रहे हैं, सब के पीछे ईश्वर का हाथ है। और फिर यह अच्छा तमाशा होता है कि अपराधी ईश्वर और दण्ड भोगे जीव ?

'ईश्वर-भक्ति' का उद्देश्य

जैन-धर्म परमात्मा को जगत का कर्त्ता और कर्म-फल का दाता नहीं मानता है। इस पर हमारे बहुत से प्रेमी यह कहा करते हैं कि—यदि परमात्मा हमें सुख-दुःख नहीं देता तो उसकी भक्ति करने की क्या आवश्यकता है? जो हमारे काम ही नहीं आता, उसकी भक्ति से आखिर कुछ लाभ ?

जैन-धर्म उत्तर देता है कि—क्या भक्ति का अर्थ काम कराना ही है। परमात्मा को मजदूर वनाए विना भक्ति हो ही नहीं सकती। यह भक्ति क्या, यह तो एक प्रकार की तिजारत है, व्यापार है। इस प्रकार कर्तावादियों की भक्ति, भक्ति नहीं, ईश्वर को फुसलाना है। और अपने सुख के लिए उसकी चापलूसी करना अथवा घूँस देने का प्रयत्न करना है। जैन-धर्म में तो विना किसी इच्छा के प्रभु की भक्ति करना ही सच्ची भक्ति है। निष्काम भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। अव रहा यह प्रश्न कि आखिर इससे कुछ लाभ भी है या नहीं? इसका उत्तर यह है कि परमात्मा आध्यात्मिक उत्कर्ष का सर्वोच्च आदर्श है और उस आदर्श का उचित स्मरण हमें परमात्मा की भक्ति के द्वारा होता है। मनोविज्ञान शास्त्र का नियम है कि जो मनुष्य जैसी वस्तु का निरन्तर विचार करता है, चिन्तन करता है, कालान्तर में वह वैसा ही वन जाता है, वैसी ही मनोवृत्ति पा लेता है। जिसकी जैसी भावना होती है, वह वैसा ही रूप धारण कर लेता है। इस नियम के अनुसार परमात्मा का चिन्तन, मनन, भजन करने से परमात्म-पद की प्राप्ति होती है। और यह प्राप्ति, क्या कुछ कम लाभ है?

एक वात और। पहले भी कहा जा चुका है कि जैन धर्म परमात्मा में विश्वास अवश्य रखता है, उसकी भक्ति औ[र] स्तुति भी करता है, पर उसे सुख-दुःख का कर्ता-हर्ता मानक[र] नहीं, किन्तु उसके महान् गुणों को आदर्श मानकर। वह ईश्व[र] को एक परम विशुद्ध आत्मा के रूप में मानता है, और प्रत्[येक] साधक के समक्ष आध्यात्मिक पवित्रता का यही आदर्श प्र[स्तुत] करता है?

* * *

२५

'अवतारवाद' की कल्पना मनुष्य के मन की दीनता और परावलम्बिता का स्पष्ट चित्रण है।

जैन दर्शन मनुष्य की श्रेष्ठता का दर्शन है, उसमें मनुष्य के अवतरण—पतन का आदर्श नहीं, बल्कि उत्तरण—उत्थान का आदर्श है। वह 'नर' में 'नारायण', और 'जन' में 'जिनत्व' का दर्शन करता है, और करता है प्रत्येक 'जन' को 'जिनत्व' की ओर बढ़ने के लिए उत्प्रेरित !

प्रस्तुत निबन्ध में इसी प्रश्न पर विस्तार के साथ चर्चा की गई है।

अवतारवाद या उत्तारवाद ?

ब्राह्मण-संस्कृति अवतारवाद में विश्वास करती है। ईश्वर एक सर्वोपरि शक्ति है। वह भूमण्डल पर अवतार धारण कर मनुष्य आदि का रूप लेती है और अधर्म का नाश कर धर्म की स्थापना करती है। यह है अवतारवाद की मूल भावना। संसार में राम, कृष्ण आदि जितने भी महापुरुष हुए हैं, ब्राह्मण-संस्कृति ने सब को ईश्वर का अवतार माना है और कहा है कि भूमि का भार उतारने के लिए समय-समय पर ईश्वर को विभिन्न रूपों में जन्म ग्रहण करना पड़ता है।

इसके विपरीत श्रमण-संस्कृति, फिर चाहे वह जैन-संस्कृति हो अथवा बौद्ध-संस्कृति, अवतारवाद की धारणा में किसी भी

तरह का विश्वास नहीं रखती। श्रमण-संस्कृति का आदिकाल से यही आदर्श रहा है कि इस संसार को बनाने-बिगाड़ने वाली ईश्वर या अन्य किसी नाम की कोई भी सर्वोपरि शक्ति नहीं है। अतः जबकि लोकप्रकल्पित सर्वसत्ताधारी ईश्वर ही कोई नहीं है, तब उसके अवतार लेने की बात को तो अवकाश ही कहाँ रहता है? यदि कोई ईश्वर हो भी, तो वह सर्वज्ञ, शक्तिमान् क्यों नीचे उतर कर आए? क्यों मत्स्य, वराह एवं मनुष्य आदि का रूप ले? क्या वह जहाँ है वहाँ से ही अपनी अनन्त शक्ति के प्रभाव से भूमि का भार हरण नहीं कर सकता?

अवतारवाद बनाम दासभावना

अवतारवाद के मूल में एक प्रकार से मानव-मन की हीन-भावना ही काम कर रही है। वह यह कि मनुष्य आखिर मनुष्य ही है। वह कैसे इतने महान् कार्य कर सकता है? अतः संसार में जितने भी विश्वोपकारी महान् पुरुष हुए हैं, वे सब वस्तुतः मनुष्य नहीं थे, ईश्वर थे और ईश्वर के अवतार थे। ईश्वर थे, तभी तो इतने महान् आश्चर्यजनक कार्य कर गए। अन्यथा बेचारा आदमी यह सब कुछ कर सकता था? कदापि नहीं।

अवतारवाद का भावार्थ ही यह है—नीचे उतरो, हीनता का अनुभव करो। अपने को पंगु, बेबस, लाचार समझो। जब भी कभी महान् कार्य करने का प्रसंग आए, देश या धर्म पर घिरे हुए संकट एवं अत्याचार के बादलों को विध्वंस करने का अवसर आए, तो बस ईश्वर के अवतार लेने का इन्तजार करो, सब प्रकार से दीन-हीन एवं पंगु मनोवृत्ति से ईश्वर के चरणों में शीघ्र से शीघ्र अवतार लेने के लिए पुकार करो। वही संकटहारी है, अतः वही कुछ परिवर्तन ला सकता है।

अजी भगवान् थे, भगवान ! भला भगवान् के अतिरिक्त और कौन दूसरा यह काम कर सकता है !" इस प्रकार हमारे प्राचीन महापुरुषों के अहिंसा, दया, दान, सत्य परोपकार आदि जितने भी श्रेष्ठ एवं महान् गुण हैं, उन सबसे अवतारवादी लोग मुँह मोड़ लेते हैं, अपने को साफ बचा लेते हैं। अवतारवादियों के यहाँ जो कुछ भी है, सब प्रभु की लीला है। वह केवल सुनने-भर के लिए है, आचरण करने के लिए नहीं। भला, सर्वशक्तिमान् ईश्वर के कामों को मनुष्य कहीं अपने आचरण में उतार कर सकता है ?

अवतारों का चरित्र श्रव्य है या कर्तव्य ?

कुछ प्रसंग तो ऐसे भी आते हैं, जो केवल दोषों को ढांकने का ही प्रयत्न करते हैं। जब कोई विचारक, किसी भी अवतार के रूप में माने जाने वाले व्यक्ति का जीवन चरित्र पढ़ता है, और उसमें कोई नैतिक जीवन की भूल पाता है, फलत: विचारक होने के नाते उचित आलोचना करता है, अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा कहता है, तो अवतारवादी लोग विचारक का यह अधिकार छीन लेते हैं। ऐसे प्रसंगों पर वे प्राय: कहा करते हैं—"अरे तुम क्या जानों ? यह सब उस महाप्रभु की माया है। वह जो कुछ भी करता है, अच्छा ही करता है। जिसे हम आज बुराई समझते हैं, उसमें भी कोई-न-कोई भलाई ही रही होगी ! हमें श्रद्धा रखनी चाहिए, ईश्वर का अपवाद नहीं करना चाहिए !" इस प्रकार अवतारवादी लोग श्रद्धा की दुहाई देकर स्वतन्त्र चिन्तन एवं गुणदोष के परीक्षण का सिंह-द्वार सहसा बन्द कर देते हैं। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में जब राजा परीक्षित ने श्री कृष्ण का गोपियों के साथ उन्मुक्त व्यवहार का वर्णन सुना तो वह चोंक उठा।

भगवान् होकर इस प्रकार अमर्यादित आचरण ! कुछ समझ में नहीं आया। उस समय श्री शुकदेव जी ने, कैसा अनौखा तर्क उपस्थित किया है ? वे कहते हैं—"राजन् ! महापुरुषों के जीवन सुनने के लिए हैं, आचरण करने के लिए नहीं।" कोई भी विचारक इस समाधान-पद्धति से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। वे महापुरुष हमारे जीवन-निर्माण के लिए उपयोगी कैसे हो सकते हैं, जिनके जीवन-वृत्त केवल सुनने के लिए हों, विधि-निषेध के रूप में अपनाने के लिए नहीं ? क्या इनके जीवन-चरित्रों से फलित होने वाले आदर्शों को अपनाने के लिए अवतारवादी साहित्यकार जनता को कुछ गहरी प्रेरणा देते हैं ? इन सब प्रश्नों का उत्तर यदि ईमानदारी से दिया जाए, तो इस अवतारवाद की विचार-परम्परा में एक-मात्र नकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

'अवतरण' नहीं, 'उत्तरण'

श्रमण-संस्कृति का आदर्श, ईश्वर का अवतार न होकर मनुष्य का उत्तार है। यहाँ ईश्वर का मानव-रूप में अवतरण नहीं माना जाता, प्रत्युत मानव का ईश्वर-रूप में उत्तरण माना जाता है। अवतरण का अर्थ है—नीचे की ओर आना और उत्तरण का अर्थ है—ऊपर की ओर जाना। हाँ, तो श्रमण-संस्कृति में मनुष्य से बढ़कर और कोई दूसरा श्रेष्ठ प्राणी नहीं है। मनुष्य केवल हाड़ मांस का चलता फिरता पिंजरा नहीं है, प्रत्युत वह अनन्त-अनन्त शक्तियों का पुंज है। वह देवताओं का भी देवता है, स्वयंसिद्ध ईश्वर है। परन्तु जब तक वह संसार की मोह-माया के कारण कर्म-मल से आच्छादित है, तब तक वह अन्धकार से घिरा हुआ सूर्य है, फलतः प्रकाश दे तो कैसे

दे ? सूर्य को प्रकाश देने से पहले रात्रि के सघन अन्धकार को चीरकर वाहर आना ही होगा।

हाँ, तो ज्यों ही मनुष्य अपने होश में आता है, अपने वास्तविक आत्म-स्वरूप को पहचानता है, पर-परिणति को त्याग कर स्व-परिणति को अपनाता है, तो धीरे-धीरे निर्मल, शुद्ध एवं स्वच्छ होता चला जाता है, और एक दिन अनन्तानन्त जगमगाती हुई आध्यात्मिक शक्तियों का पुंज वन कर शुद्ध, वुद्ध, परमात्मा, अरिहन्त, ब्रह्म तथा ईश्वर वन जाता है। श्रमण-संस्कृति में आत्मा की चरम शुद्ध दशा का नाम ही ईश्वर है, परमात्मा है। इसके अतिरिक्त और कोई अनादि-सिद्ध ईश्वर नहीं है। "कर्म-बद्धो भवेज्जीवः, कर्ममुक्तस्तथा जिनः।"

यह है श्रमण-संस्कृति का उत्तारवाद, जो मनुष्य को अपनी ही आत्म-साधना के वल पर ईश्वर होने के लिए ऊर्ध्वमुखी प्रेरणा देता है। यह मनुष्य के अनादिकाल से सोये हुए साहस को जगाता है, विकसित करता है और उसे सत्कर्मों की ओर उत्प्रेरित करता है, किन्तु उसे पामर मनुष्य कहकर उत्साह भंग नहीं करता। इस प्रकार श्रमण-संस्कृति मानवजाति को सर्वोपरि विकास-विन्दु की ओर अग्रसर होना सिखाती है।

श्रमण-संस्कृति का हजारों वर्षों से यह उद्घोष रहा है कि वह सर्वथा परोक्ष एवं अज्ञात ईश्वर में विल्कुल विश्वास नहीं रखती। इसके लिए उसे तिरस्कार, अपमान, लाञ्छना, भर्त्सना, और घृणा, जो भी कड़वे-से-कड़वे रूप में मिल सकती थी, मिली। परन्तु वह अपने प्रशस्त-पथ से विचलित नहीं हुई। उसका हर कदम पर यही कहना रहा कि जिस ईश्वर नामधारी व्यक्ति की स्वरूप-सम्वन्धी कोई निश्चित रूप-रेखा हमारे सामने नहीं है, जो अनादिकाल से मात्र कल्पना का विषय ही रहा है,

जो सदा से अलौकिक ही रहता चला आया है, वह हम मनुष्यों को क्या आदर्श सिखा सकता है ? उसके जीवन एवं व्यक्तित्व पर से हमें क्या कुछ मिल सकता है ? हम मनुष्यों के लिए तो वही आराध्यदेव आदर्श हो सकता है, जो कभी मनुष्य ही रहा हो, हमारे समान ही संसार के सुख-दुःख एवं माया-मोह से संत्रस्त रहा हो, और वाद में अपने अनुभव एवं आध्यात्मिक जागरण के बल से संसार के समस्त सुख-भोगों को ठुकरा कर निर्वाण-पद का पूर्ण अधिकारी बना हो, फल-स्वरूप सदा के लिए कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर, राग-द्वेष से सर्वथा रहित होकर अपने मोक्ष-स्वरूप अन्तिम आध्यात्मिक लक्ष्य पर पहुँच चुका हो ।

'जन' में 'जिनत्व' के दर्शन

श्रमण-संस्कृति के तीर्थङ्कर, अरिहन्त, जिन एवं सिद्ध सब इसी श्रेणी के साधक थे । वे कुछ प्रारम्भ से ही ईश्वर न थे, ईश्वर के अंश या अवतार न थे, अलौकिक देवता न थे । वे बिल्कुल हमारी तरह ही एक दिन इस संसार के सामान्य प्राणी थे, पापमल से लिप्त एवं दुःख, शोक, आधि, व्याधि से संत्रस्त थे । इन्द्रिय-सुख ही एक-मात्र उनका ध्येय था और उन्हीं वैषयिक कल्पनाओं के पीछे अनादि काल से नाना प्रकार के क्लेश उठाते, जन्म-मरण के झंझावात में चक्कर खाते घूम रहे थे । परन्तु जब वे आध्यात्मिक-साधना के पथ पर आए, तो सम्यग्दर्शन के द्वारा जड़-चेतन के भेद को समझा, भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख के अन्तर पर विचार किया, फलतः संसार की वासनाओं से मुँह मोड़ कर सत्पथ के पथिक बन गये और आत्म-संयम की साधना में लगातार अनेक जन्म बिताकर अन्त में एक दिन वह मानव-जन्म प्राप्त किया कि जहाँ आत्म-साधना के विकास-स्वरूप अरिहन्त, जिन एवं तीर्थङ्कर रूप में प्रकट

हुए। श्रमण-संस्कृति के प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में आज भी उनके पतनोत्थान-सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण अनुभव एवं धर्म-साधना के क्रमबद्ध चरण-चिह्न मिल रहे हैं। जिनसे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक साधारणजन में जिनत्व के अंकुर हैं, जो उन्हें अपनी साधना के जल-सिंचन से विकसित करके महावृक्ष के रूप में पल्लवित कर सकता है, उसे 'जिनत्व' का अमरफल प्राप्त हो सकता है। राग-द्वेष-विजेता अरिहन्तों के जीवन-सम्बन्धी उच्च आदर्श, साधक-जीवन के लिए, क्रमबद्ध अभ्युदय एवं निःश्रेयस के रेखा-चित्र उपस्थित करते हैं। अतएव श्रमण-संस्कृति का उत्तारवाद केवल सुनने-भर के लिए नहीं है, अपितु जीवन के हर अंग में गहरा उतारने के लिए है। उत्तारवाद, मानव-जाति को पाप के फल से बचने को नहीं, अपितु मूलतः पाप से ही बचने की प्रेरणा देता है और जीवन के ऊँचे आदर्शों के लिए जनता के हृदय में अजर, अमर, अनन्त सत्साहस की अखण्ड ज्योति जगा देता है।

२६
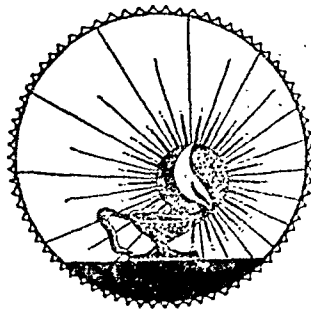
जैनदर्शन ने जब 'सृष्टिकर्ता' और 'कर्मफल दाता' के रूप में ईश्वर का निराकरण किया तो प्रश्न आया कि प्राणी को सुख-दुःख देने वाला कौन है ? यह सृष्टि अपने नियत क्रम से चल रही है तो उसका चालक कौन है ?
जैनदर्शन ने इस तर्क का उत्तर 'कर्मवाद' के सिद्धान्त से दिया है।
दर्शन की इन रोचक मान्यताओं की चर्चा पढ़िए प्रस्तुत निबन्ध में। समस्याएँ भी हैं, और समाधान भी है।

जैन-दर्शन का कर्मवाद

दार्शनिक वादों की दुनिया में कर्मवाद भी अपना एक विशिष्ट महत्व रखता है। जैन धर्म की सैद्धान्तिक विचारधारा में तो कर्मवाद का अपना एक विशेष स्थान रहा है। बल्कि यह कहना, अधिक उपयुक्त होगा कि कर्मवाद के मर्म को समझे बिना जैन-संस्कृति और जैन-धर्म का यथार्थ ज्ञान हो ही नहीं सकता। जैन-धर्म तथा जैन-संस्कृति का भव्य प्रासाद कर्मवाद की गहरी एवं सुदृढ़ नींव पर ही टिका हुआ है। अतः आइए, कर्मवाद के सम्बन्ध में कुछ मुख्य-मुख्य बातें समझ लें।

कर्मवाद का ध्येय

कर्मवाद की धारणा है कि संसारी आत्माओं की सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति और ऊँच-नीच आदि जितनी भी विभिन्न

अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, उन सभी में काल एवं स्वभाव आदि की तरह कर्म भी एक प्रबल कारण है। जैन-दर्शन जीवों की इन विभिन्न परिणतियों में ईश्वर को कारण न मान कर, कर्म को ही कारण मानता है। अध्यात्मशास्त्र के मर्मस्पर्शी सन्त देवचन्द्र ने कहा है—

"रे जीव साहस आदरो, मत थावो तुम दीन;
सुख-दुःख सम्पद आपदा, पूरव कर्म अधीन।"

यद्यपि न्याय, वेदान्त आदि वैदिक दर्शनों तथा उत्तर कालीन पौराणिक ग्रन्थों में ईश्वर को सृष्टि का कर्ता और कर्म-फल का दाता माना गया है। परन्तु जैन-दर्शन सृष्टि-कर्ता और कर्म-फल-दाता के रूप में ईश्वर की कल्पना ही नहीं करता। जैन-धर्म का कहना है कि जीव जैसे कर्म करने में स्वतन्त्र है, वैसे ही वह उसके फल भोगने में भी स्वतन्त्र है। मकड़ी खुद ही अपना जाल बनाती है और खुद ही उसमें फँस भी जाती है।

आत्मा का कर्म कर्तृत्व स्पष्ट करते हुए एक विद्वान् आचार्य ने क्या ही अच्छा कहा है—

"स्वयं कर्म करोत्यात्मा,
स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे,
स्वयं तस्माद् विमुच्यते॥"

'यह आत्मा स्वयं ही कर्म का करने वाला है और स्वयं ही उसका फल भोगने वाला भी है। स्वयं ही संसार में परिभ्रमण करता है, और एक दिन धर्म-साधना के द्वारा स्वयं ही संसार-बन्धन से मुक्ति भी प्राप्त कर लेता है।'

आक्षेप और समाधान

ईश्वरवादियों की ओर से कर्मवाद पर कुछ आक्षेप भी किए गए हैं, उनमें से कुछ मुख्य-मुख्य आक्षेप जान लेने आवश्यक हैं। वे निम्न हैं—

(१) प्रत्येक आत्मा अच्छे कर्म के साथ बुरे कर्म भी करता है। परन्तु बुरे कर्म का फल कोई नहीं चाहता है। चोर, चोरी तो करता है, पर वह यह कब चाहता है कि मैं पकड़ा जाऊँ? दूसरी बात यह है कि कर्म स्वयं जड़-रूप होने से वे किसी भी ईश्वरीय चेतना की प्रेरणा के बिना फल-प्रदान में असमर्थ हैं। अतएव कर्मवादियों को मानना चाहिए कि ईश्वर ही प्राणियों को कर्म-फल देता है।

(२) कर्मवाद का यह सिद्धान्त ठीक नहीं है कि कर्म से छूट कर सभी जीव मुक्त अर्थात् ईश्वर हो जाते हैं। यह मान्यता तो ईश्वर और जीव में कोई अन्तर ही नहीं रहने देती, जो कि अतीव आवश्यक है।

जैन-दर्शन ने उक्त आक्षेपों का सुन्दर तथा युक्ति-युक्त समाधान किया है।

(१) आत्मा जैसा कर्म करता है, कर्म के द्वारा उसे वैसा ही फल भी मिल जाता है। यह ठीक है कि कर्म स्वयं जड़-रूप है। और बुरे कर्म का फल भी कोई नहीं चाहता; परन्तु यह बात ध्यान में रखने की है कि चेतन के संसर्ग से कर्म में एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि जिससे वह अच्छे बुरे कर्मों का फल जीव पर प्रकट करता रहता है। जैन-धर्म यह कब कहता है कि कर्म, चेतना के संसर्ग के बिना भी फल देता है? वह तो यही कहता है कि कर्म-फल में ईश्वर का कोई हाथ नहीं है।

कल्पना कीजिए कि एक मनुष्य धूप में खड़ा है, और गर्म चीज खा रहा है। परन्तु चाहता है कि मुझे प्यास न लगे। यह कैसे हो सकता है? एक सज्जन मिर्च खा रहे हैं और चाहते हैं कि मुँह न जले। क्या यह सम्भव है? एक आदमी शराव पीता है, और साथ ही चाहता है कि नशा न चढ़े। क्या यह व्यर्थ की कल्पना नहीं है? केवल चाहने और न चाहने-भर से कुछ नहीं होता है। जो कर्म किया जाता है, उसका फल भी भोगना पड़ता है। इसी विचारधारा को लेकर जैन-दर्शन कहता है कि जीव स्वयं कर्म करता है और स्वयं ही उसका फल भी भोगता है। शराव का नशा चढ़ाने के लिए शराव और शरावी के अतिरिक्त, क्या किसी तीसरी शक्ति के रूप में ईश्वर आदि की भी आवश्यकता होती है?

(२) ईश्वर चेतन है और जीव भी चेतन है। तव दोनों में भेद क्या रहा? भेद केवल इतना ही है कि जीव अपने कर्मों से वँधा है और ईश्वर उन वन्धनों से मुक्त हो चुका है। एक कवि ने इसी वात को अपनी भाषा में यों प्रकट किया है—

> "आत्मा परमात्मा में, कर्म ही का भेद है!
> काट दे यदि कर्म तो, फिर भेद है ना खेद है।"

जैन-दर्शन कहता है कि ईश्वर और जीव में विषमता का कारण औपाधिक कर्म है। उसके हट जाने पर विषमता टिक नहीं सकती। अतएव कर्मवाद के अनुसार यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि सभी मुक्त जीव ईश्वर वन जाते हैं। सोने में से मैल निकाल दिया जाए तो फिर सोने के शुद्ध होने में क्या किसी को आपत्ति है? आत्मा में से कर्म-मल दूर हो जाए, तो फिर शुद्ध आत्मा ही परमात्मा वन जाता है। अशुद्ध आत्मा, संसारी जीव है और शुद्ध आत्मा मुक्त जीव है।

निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्येक जीव कर्म करने में जैसे स्वतन्त्र है, वैसे ही कर्म-फल भोगने में भी वह स्वतन्त्र ही रहता है। ईश्वर का वहाँ कोई हस्तक्षेप नहीं होता। और उस हस्तक्षेप की कोई आवश्यकता भी नहीं।

कर्मवाद का व्यावहारिक रूप

मनुष्य जब किसी कार्य को आरम्भ करता है, तो उसमें कभी-कभी अनेक विघ्न और वाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य का मन चंचल हो जाता है, और वह घवरा उठता है। इतना ही नहीं, वह किं-कर्तव्य-विमूढ़ वन कर कभी-कभी अपने आस-पास के संगी-साथियों को अपना शत्रु समझने की भूल भी कर बैठता है। फल-स्वरूप अंतरंग कारणों को भूल कर केवल वाह्य दृश्य कारणों से ही जूझने लगता है।

ऐसी दशा में मनुष्य को पथ-भ्रष्ट होने से वचाकर सत्पथ पर लाने के लिए किसी सुयोग्य गुरु की वड़ी भारी आवश्यकता है। यह गुरु और कोई नहीं, कर्म-सिद्धान्त ही हो सकता है।

कर्मवाद के अनुसार मनुष्य को यह विचार करना चाहिए कि "जिस अन्तरंग भूमि में विघ्न-रूपी विष-वृक्ष अंकुरित और फलित हुआ है, उसका वीज भी उसी भूमि में होना चाहिए। वाहरी शक्ति तो जल और वायु की भांति मात्र निमित्त कारण हो सकती है। असली कारण तो मनुष्य के अपने अन्तर में ही मिल सकता है, वाहर में नहीं। और वह कारण अपना किया हुआ कर्म ही हो सकता है और कोई नहीं। अस्तु, जैसे कर्म किए हैं, वैसा ही तो उसका फल मिलेगा। नीम का वृक्ष लगाकर यदि कोई आम के फल चाहे तो कैसे मिलेंगे ? मैं वाहर के लोगों को व्यर्थ ही दोष देता हूँ। उनका क्या दोष है ? वे तो मेरे

अपने कर्मों के अनुसार ही इस प्रतिकूल स्थिति में परिणत हुए हैं। यदि मेरे कर्म अच्छे होते, तो वे भी अच्छे न हो जाते ? जल एक ही है, परन्तु वह तमाखू के खेत में कड़वा बन जाता है, तो ईख के खेत में मीठा हो जाता है। जल, अच्छा या बुरा नहीं है। अच्छा और बुरा है, ईख और तमाखू। यही बात मेरे और मेरे संगी-साथियों के सम्बन्ध में भी है। मैं अच्छा हूं तो सब अच्छे हैं, और मैं बुरा हूं तो सब बुरे हैं।"

मनुष्य को किसी भी काम की सफलता के लिए मानसिक शान्ति की बड़ी आवश्यकता है। और वह इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त से ही मिल सकती है। आँधी और तूफान में जैसे हिमालय अटल और अडिग रहता है, वैसे ही कर्मवादी मनुष्य अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी शान्त तथा स्थिर रह कर अपने जीवन को सुखी और समृद्ध बना सकता है। अतएव कर्मवाद मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में बड़ा उपयोगी प्रमाणित होता है।

कर्म-सिद्धान्त की उपयोगिता और श्रेष्ठता के सम्बन्ध मे डा० मैक्समूलर के विचार बहुत ही सुन्दर और विचारणीय हैं। उन्होंने लिखा है—

"यह तो सुनिश्चित है कि कर्मवाद का प्रभाव मनुष्य जीवन पर बेहद पड़ा है। यदि किसी मनुष्य को यह मालूम पड़े कि वर्तमान अपराध के अतिरिक्त भी मुझको जो कुछ भोगना पड़ता है, वह मेरे पूर्वकृत कर्म का ही फल है, तो वह पुराने कर्ज को चुकाने वाले मनुष्य की तरह शान्त-भाव से कष्ट को सहन कर लेगा। और यदि वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहन-शीलता के द्वारा पुराना कर्ज चुकाया जा सकता है तथा उसी से भविष्यत् के लिए नीति की समृद्धि एकत्रित की

जा सकती है, तो उस को भलाई के पथ पर चलने की प्रेरणा अपने आप होगी। अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नहीं होता। यह नीति-शास्त्र का मत और पदार्थ-शास्त्र का वल-संरक्षण-सम्वन्धी मत समान ही है। दोनों मतों का आशय इतना ही है कि किसी भी सत्ता का नाश नहीं होता। किसी भी नीति-शिक्षा के अस्तित्व के सम्वन्ध में कितनी ही क्यों न शङ्का हो, पर, यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्म-सिद्धान्त सवसे अधिक व्यापक क्षेत्र में माना गया है। उससे लाखों करोड़ों मनुष्यों के कष्ट कम हुए हैं। और कर्म-सिद्धान्त से मनुष्यों को वर्तमान कालीन संकट झेलने की शक्ति प्राप्त करने तथा अपने भावी जीवन को सुधारने में भी उत्तेजना, प्रोत्साहन और आत्मिक वल मिलता है।"

पाप और पुण्य

साधारण जनता यह समझती है कि किसी को कष्ट एवं दुःख देने से पाप कर्म का वन्ध होता है और इसके विपरीत किसी को सुख एवं सुविधा प्रदान करने से पुण्य-कर्म का वन्ध होता है। परन्तु जव हम दार्शनिक दृष्टि से जैन-धर्म का चिन्तन करते हैं तो पाप और पुण्य की यह उपर्युक्त कसौटी खरी नहीं उतरती है। क्योंकि कितनी ही वार उक्त कसौटी के सर्वथा विपरीत परिणाम भी परिलक्षित होते हैं।

एक मनुष्य किसी को कष्ट देता है। जनता समझती है कि वह पाप-कर्म वाँध रहा है, परन्तु वाँधता है भीतर में पुण्य-कर्म। और कभी कोई मनुष्य किसी को सुख देता है। ऊपर से वह पुण्य-कर्म वाँधने वाला लगता है, परन्तु वाँध रहा है अन्दर में पाप-कर्म।

इस गम्भीर भाव को समझने के लिए कल्पना कीजिए—
 डाक्टर किसी फोड़े के रोगी का ऑपरेशन करता है। उस
य रोगी को कितना कष्ट होता है, वह कितना चिल्लाता
? परन्तु डाक्टर यदि शुद्ध-भाव से चिकित्सा करता है, तो
 पुण्य बाँधता है, पाप नहीं। माता-पिता हित-शिक्षा के लिए
नी सन्तान को ताड़ते हैं, नियन्त्रण में रखते हैं, तो क्या वे
 बाँधते हैं ? नहीं, वे पुण्य बाँधते हैं। इसके विपरीत एक
ुष्य ऐसा है, जो दूसरों को ठगने के लिए मीठा बोलता है,
ा करता है, भजन पूजा भी करता है, तो क्या वह पुण्य
धता है ? नहीं, वह भयंकर पाप-कर्म का बन्ध करता है।
दर में जहर रख कर ऊपर के लोगदिखाऊ अमृत से कोई
 पुण्य कर्म नहीं बाँध सकता।

अतएव जैन-धर्म का कर्मसिद्धान्त कहता है कि पाप और
य का बन्ध किसी भी बाह्य क्रिया पर आधारित नहीं है।
ह्य क्रियाओं की पृष्ठभूमि-स्वरूप अन्तःकरण में जो शुभाशुभ
वनाएँ हैं, वे ही पाप और पुण्य-बन्ध की खरी कसौटी हैं।
ोंकि जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसा ही
भाशुभ कर्म-बन्ध होता है और तदनुरूप ही शुभाशुभ कर्मफल
लता है। '**याद्दशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति ताद्दशी।**'

कर्म प्रवाह अनादि है

दार्शनिक-क्षेत्र में यह प्रश्न चिरकाल से चल रहा है कि
र्म सादि है अथवा अनादि ? सादि का अर्थ है—आदि वाला,
सका एक दिन आरम्भ हुआ हो। अनादि का अर्थ है—आदि-
हित, जिसका कभी भी आरम्भ न हुआ हो, जो अनन्त काल
 चला आ रहा हो। भिन्न-भिन्न दर्शनों ने इस सम्बन्ध में
न्न-भिन्न उत्तर दिए हैं। जैन-दर्शन भी इस प्रश्न का अपना

...ाद्य उत्तर रखता है। वह अनेकान्त की भाषा में कहता
कर्म सादि भी है और अनादि भी। इसका स्पष्टीकरण
... कि कर्म किसी एक विशेष कर्म-व्यक्ति की अपेक्षा से सादि
है और अपने परम्परा-प्रवाह की दृष्टि से अनादि भी है।
... कर्म का प्रवाह कब से चला ? इस प्रश्न का 'हाँ' में
...त्तर है ही नहीं। इसीलिए जैन-दर्शन का कहना है कि कर्म
प्रवाह से अनादि है। और इधर प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रत्येक
क्रिया में नित्य नए कर्मों का वन्ध करता रहता है। अतः
अमुक कर्मविशेष की अपेक्षा से कर्म को सादि भी कहा
जाता है।

भविष्यत्काल के समान अतीत काल भी असीम एवं
अनन्त है। अतएव भूतकालीन अनन्त का वर्णन 'अनादि' या
'अनन्त' शब्द के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से हो ही नहीं
सकता। इसीलिए कर्म-प्रवाह को अनादि कहे विना दूसरी
कोई गति नहीं है। यदि हम कर्म-वन्ध की अमुक निश्चित
तिथि मानें, तो प्रश्न है कि उससे पहले आत्मा किस रूप में
था ? यदि शुद्ध रूप में था, कर्म-वन्ध से सर्वथा रहित था, तो
फिर सर्वथा शुद्ध आत्मा को कर्म कैसे लगे ? उसी दिन आत्मा
का मोक्ष क्यों नहीं होगया ? यदि सर्वथा शुद्ध आत्मा को भी
कर्म लग जाएँ, तो फिर मोक्ष-दशा में सर्वथा शुद्ध होने पर भी
कर्म-वन्ध का होना मानना पड़ेगा। इस दशा में मोक्ष का मूल्य
ही क्या रहेगा ? केवल मुक्त आत्मा की ही क्या बात ?। ईश्वर-
वादियों का शुद्ध ईश्वर भी फिर तो कर्म-वन्ध के द्वारा विकारी
एवं संसारी हो जायगा। अतएव शुद्ध अवस्था में किसी भी
प्रकार से कर्म-वन्ध का मानना, युक्ति-युक्त नहीं है। इसी अमर
सत्य को ध्यान में रखकर जैन-दर्शन ने कर्म-प्रवाह को अनादि
... है।

कर्म-बन्ध के कारण

यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि कारण के विना कोई भी कार्य नहीं होता। क्या बीज के विना वृक्ष कभी पैदा होता है? हाँ, तो कर्म भी एक कार्य है। अतः उसका कोई-न-कोई कारण भी अवश्य होना चाहिए। विना कारण के कर्म-स्वरूप कार्य किसी प्रकार भी अस्तित्व में नहीं आ सकता।

जैन-धर्म में कर्म-वन्ध के मूल कारण दो वतलाए हैं— राग और द्वेष। भगवान् महावीर ने अपने अंतिम प्रवचन में कहा है—**'रागो य दोसो विय कम्म-बीयं।'** अर्थात् राग और द्वेष ही कर्म के वीज हैं, मूल कारण है। आसक्ति-मूलक प्रवृत्ति को राग और घृणा-मूलक प्रवृत्ति को द्वेष कहते हैं। पुण्य-कर्म के मूल में भी किसी-न-किसी प्रकार की सांसारिक तृष्णा एवं आसक्ति होती है। घृणा और आसक्ति से रहित शुद्ध प्रवृत्ति से कर्म-वन्धन टूटता है, बंधता नहीं।

मुक्ति के साधन

कर्म-वन्धन से रहित होने का नाम मुक्ति है। जैन-धर्म की मान्यता है कि जव आत्मा राग-द्वेष के वन्धन से सर्वथा छुटकारा पा लेता है, आगे के लिए कोई नया कर्म वाँधता नहीं है, और पुराने वँधे हुए कर्मों को भोग लेता है, या धर्म-साधना के द्वारा पूर्ण रूप से नष्ट कर देता है, तो फिर सदा काल के लिए मुक्त हो जाता है, अजर अमर हो जाता है। जव तक कर्म और कर्म के कारण राग-द्वेष से मुक्ति नहीं मिलती, तव तक आत्मा किसी भी दशा में मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता।

अव प्रश्न केवल यह रह जाता है कि कर्म-वन्धन से मुक्ति पाने के क्या साधन हैं, क्या उपाय हैं? जैन-धर्म इस प्रश्न का वहुत सुन्दर उत्तर देता है। वह कहता है कि—आत्मा ही कर्म

बाँधने वाला है और वही उसे तोड़ने वाला भी है। कर्मों से मुक्ति पाने के लिए वह ईश्वर के आगे गिड़गिड़ाने अथवा नदी-नालों और पहाड़ों पर तीर्थ-यात्रा के रूप में भटकने के लिए प्रेरणा नहीं देता। वह मुक्ति का साधन अपनी आत्मा में ही खोजता है। जैन तीर्थङ्करों ने मोक्ष-प्राप्ति के तीन साधन बताए हैं :—

(१) सम्यग् दर्शन

"आत्मा है, वह कर्मों से बँधा हुआ है और एक दिन वह बन्धन से मुक्त होकर सदा काल के लिए अजर अमर परमात्मा भी हो सकता है।" इस प्रकार के दृढ़ आत्म-विश्वास का नाम ही सम्यग् दर्शन है। सम्यग् दर्शन के द्वारा हीनता और दीनता आदि के भाव क्षीण हो जाते हैं और आत्म-शक्ति में अटल विश्वास का भाव जागृत हो जाता है।

(२) सम्यग् ज्ञान

चैतन्य और जड़ पदार्थों के भेद का ज्ञान करना, संसार और उसके राग-द्वेषादि कारण तथा मोक्ष और उसके सम्यग्-दर्शनादि साधनों का भली-भाँति चिन्तन-मनन करना, सम्यग् ज्ञान कहलाता है। सांसारिक दृष्टि से कितना ही बड़ा विद्वान् क्यों न हो, यदि उसका ज्ञान मोह-माया के बन्धनों को ढीला नहीं करता है, विश्व-कल्याण की भावना को प्रोत्साहित नहीं करता है, आध्यात्मिक जागृति में बल नहीं पैदा करता है, तो वह ज्ञान, सम्यग् ज्ञान नहीं कहला सकता। सम्यग् ज्ञान के लिए आध्यात्मिक चेतना एवं पवित्र उद्देश्य की अपेक्षा है। मोक्षाभिमुखी आत्म-चेतना ही वस्तुतः सम्यग् ज्ञान है।

(३) सम्यक् चारित्र

सम्यक् का अर्थ सच्चा और चारित्र का अर्थ है आचरण। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि व्रतों का पालन करना सम्यक् चारित्र है।

जैन धर्म चारित्र-प्रधान धर्म है। वह केवल भावनाओं और संकल्पों के भरोसे ही नहीं बैठा रहता। उचित पुरुषार्थ ही जीवन का मार्ग है, सिद्धि का सोपान है। अतएव विश्वास और ज्ञान के अनुसार अहिंसा एवं सत्य आदि सदाचार की साधना करना ही सम्यक् चारित्र है।

इस प्रकार जैन-दर्शन में कर्म और कर्ममुक्ति का विवेचन बहुत ही तर्कपूर्ण एवं यथार्थ दृष्टि से किया गया है।

२७

जैन दर्शन में आत्मा का क्या अर्थ है, और उसका स्वरूप क्या है—इस विषय में आध्यात्मिक दृष्टि से विचार किया गया है निम्न अध्याय में।

आत्मा और उसका स्वरूप

आत्मा क्या है ? जो सदा अमर रहता है, जिसका कभी नाश नहीं होता, जो नारकी, पशु, मनुष्य और देव-गतियों में नाना-रूप पाकर भी कभी अपने अजर अमर स्वरूप से च्युत नहीं होता, वह आत्मा है। जिस प्रकार पुराना कपड़ा छोड़ कर नया पहना जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी पुराना शरीर छोड़कर नया शरीर धारण कर लेता है। जन्म-मरण के द्वारा केवल शरीर बदला जाता है, आत्मा का कभी नाश नहीं होता। यह आत्मा न शस्त्र से कटता है, न आग में जलता है, न धूप में सूखता है, न जल में भीगता है, न हवा में उड़ता है। यह सनातन और अचल है।

आत्मा की ज्ञानरूपता

आत्मा ज्ञान-रूप है। हर एक वस्तु को जानना, देखना, मालूम करना, आत्मा का ही धर्म है। जब तक मनुष्य जीवित रहता है अर्थात् शरीर में आत्मा रहता है, तब तक जानता है, देखता है, सूंघता है, चखता है, छूता है, सुख-दुःख का अनुभव करता है, और जब शरीर में आत्मा नहीं रहता है, तब कुछ भी ज्ञान-शक्ति नहीं रहती। अतः जैन-धर्म में आत्मा को ज्ञान-स्वरूप कहा है।

अमूर्त और अनन्त

आत्मा अमूर्त है। उसमें न रूप है, न रस है, न गन्ध है, न स्पर्श है। आत्मा पकड़ने जैसी चीज नहीं है। सब पदार्थों में वायु को सूक्ष्म कहा जाता है। परन्तु वायु का तो स्पर्श होता है, आत्मा का तो स्पर्श भी नहीं होता। अतएव वह अमूर्त है। रूप, रस आदि जड़ शरीर के धर्म हैं, आत्मा के नहीं।

संसार में आत्मा अनन्त हैं। अनन्त का अर्थ है, जो गिनती से बाहर हो, जो सीमा से बाहर हो, जो नाप-तौल से बाहर हो। आत्माओं का संख्या और काल की दृष्टि से कभी अन्त नहीं होता, इसलिए अनन्त है। यही कारण है कि अनन्त काल से आत्माएँ मोक्ष में जा रही हैं, फिर भी संसार में आत्माओं का कभी अन्त नहीं आया और न कभी भविष्य में आएगा। जो अनन्त हैं, फिर भला उनका अन्त कैसा? यदि अनन्त का भी कभी अन्त आ जाए, तब तो अनन्त शब्द ही मिथ्या हो जाए।

संसारी और सिद्ध

आत्मा के दो भेद हैं—'संसारी और सिद्ध।' सिद्धों में भेद का कारण कर्म-मल नहीं रहता है, अतः वहाँ कोई मौलिक भेद नहीं होता। हाँ, संसारी दशा में कर्म का मल लगा रहता है, अतः संसारी जीवों के नरक, तिर्यञ्च आदि गति, और एकेन्द्रिय आदि जाति—इस प्रकार भिन्न-भिन्न दृष्टि से अनेक भेद हैं।

आत्मा के तीन प्रकार

यहाँ हम त्रस, स्थावर, संज्ञी, असंज्ञी आदि भेदों में न जाकर आत्मा के और ही तीन भेद बताना चाहते हैं—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा, (३) और परमात्मा। यह तीन भेद, भावों की अपेक्षा से हैं। जैन-धर्म के आध्यात्मिक ग्रन्थों में इनका विस्तृत विवेचन किया है, किन्तु यहाँ संक्षेप में ही उनका स्वरूप बतलाते हैं।

बहिरात्मा

प्रथम श्रेणी के प्राणी बहिरात्मा हैं। बहिरात्मा का अर्थ है—'बहिर्मुख आत्मा।' जो आत्मा संसार के भोग विलासों में भूले रहते हैं, जिन्हें सत्य और असत्य का कुछ भान नहीं रहता, जो धर्म और अधर्म का विवेक भी नहीं रखते, वे बहिरात्मा हैं। बहिरात्मा, आत्मा और शरीर को पृथक्-पृथक् नहीं समझता। वह शरीर के नाश को आत्मा का नाश और शरीर के जन्म को आत्मा का जन्म मानता है। यह दशा बहुत बुरी है। यह आत्मा का स्वभाव नहीं, विभाव है। अतः इस दशा को त्याग कर अन्तरात्मा की ओर जाना चाहिए।

अन्तरात्मा

द्वितीय श्रेणी के विकसित आत्मा अन्तरात्मा कहलाते हैं। अन्तरात्मा का अर्थ है—'अन्तर्मुख आत्मा।' जो आत्मा भौतिक सुख के प्रति अरुचि रखते हों, सत्य और असत्य का भेद-भाव समझते हों; धर्म और अधर्म का विवेक रखते हों, वे अन्तरात्मा हैं। अन्तरात्मा, शरीर और आत्मा को पृथक्-पृथक् समझता है। वह शरीर के सुख-दुःख से आकुल-व्याकुल नहीं होता। अहिंसा, सत्य आदि पर विश्वास रखता है और यथाशक्ति आचरण करता है। सम्यग्दृष्टि, श्रावक, श्राविका और साधु-साध्वी सब अन्तरात्मा हैं। अन्तरात्मा साधक-दशा है! यहाँ आध्यात्मिक-जीवन की साधना प्रारम्भ होती है, और विकास पाती है।

परमात्मा

अन्तरात्मा साधना करते-करते जब आध्यात्मिक विकास की सर्वोच्च भूमिका पर पहुँचता है, तब वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी परमात्मा हो जाता है। वीतराग भगवान् श्री महावीर स्वामी

आदि तीर्थङ्कर इसी भूमिका पर थे। परमात्मा का अर्थ है—परम + आत्मा। परम=पूर्ण रूप से उत्कृष्ट आत्मा। परमात्मा के दो भेद हैं—(१) जीवन्मुक्त श्री अरिहन्त भगवान् और (२) विदेह-मुक्त श्री सिद्ध भगवान्। मोक्ष से पहले शरीरधारी परमात्मा जीवन्मुक्त अरिहन्त कहलाते हैं, और शरीर से रहित होकर मोक्ष में पहुँचने पर वे ही सिद्ध भगवान् हो जाते हैं।

वहिरात्मा संसारी-जीवन का प्रतिनिधि है। अन्तरात्मा साधक-जीवन का प्रतिनिधि है। और परमात्मा साध्य-जीवन का प्रतिनिधि है। वहिरात्म-दशा का त्याग कर अन्तरात्मा होना चाहिए और फिर विकास करते-करते परमात्मा की भूमिका तक पहुंचा जा सकता है। परमात्मा हमारा लक्ष्य है। जैन-धर्म का सिद्धान्त है कि प्रत्येक आत्मा आध्यात्मिक जीवन का विकास करते-करते अन्त में राग-द्वेष से सर्वथा रहित होकर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी परमात्मा हो सकता है। इसलिए जैन धर्म का यह मूल स्वर है कि 'अप्पा सो परमप्पा' आत्मा ही परमात्मा है।

* * *

२८

धर्म शब्द जितना व्यापक है उतनी ही विभिन्न हैं उसकी परिभाषाएँ। अतः धर्म की शुद्ध और सही परिभाषा समझना भी कठिन हो गया है।
प्रस्तुत अध्याय में धर्म की यथार्थ परिभाषा पढ़िए।

आत्म-धर्म

"धर्म क्या वस्तु है? धर्म किसे कहते हैं?"—यह प्रश्न बड़ा गम्भीर है। भारतवर्ष के जितने भी मत, पन्थ, या सम्प्रदाय हैं, सभी ने उक्त प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न किया है। किसी ने किसी बात में धर्म माना है, तो किसी ने किसी बात में धर्म माना है। सबके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं।

धर्म के भिन्न-भिन्न स्वरूप

पुराने मीमांसा सम्प्रदाय के मानने वाले कहते हैं कि यज्ञ करना धर्म है। यज्ञ में अश्व, अज आदि पशुओं का हवन करने से बहुत बड़ा धर्म होता है, और मनुष्य स्वर्ग को पाता है। भगवान् महावीर के समय में इस मत का बड़ा प्रचलन था। भगवान् का विचार संघर्ष इसी वैदिक सम्प्रदाय से हुआ था। आज भी देवी-देवताओं के आगे पशु-बलि करने वाले लोग उसी सम्प्रदाय के ध्वंसावशेष हैं।

पौराणिक धर्म के मानने वाले कहते हैं कि भगवान् की भक्ति करना ही धर्म है। मनुष्य कितना ही पापी क्यों न हो,

यदि वह भगवान् की शरण स्वीकार कर लेता है, उसका नाम जपता है, तो वह सब पापों से मुक्त हो जाता है। श्रीकृष्ण, राम, और शिव आदि की उपासना करने वाले उसी पौराणिक धर्म के मानने वाले हैं। भगवद्-भक्ति ही पौराणिक धर्म की विशेषता है।

और कितने उदाहरण दिये जाएँ ? भिन्न-भिन्न विचार-धाराओं में धर्म का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न रूप से वर्णन किया गया है। कुछ लोग नहाने में धर्म मानते हैं, कुछ लोग ब्राह्मणों को भोजन कराने में धर्म मानते हैं, कुछ लोग पूजा, पाठ, जप, तिलक, छापा आदि में धर्म मानते हैं। सब लोग धर्म का स्थूल रूप जनता के सामने रख रहे हैं। धर्म के सूक्ष्म रूप का दर्शन वे नहीं कर पाते।

वत्थुसहावो धम्मो

जैन-धर्म का सूक्ष्म चिन्तन संसार में प्रसिद्ध है। वह वस्तु के बाह्य रूप पर उतना ध्यान नहीं देता, जितना कि उसके सूक्ष्म रूप पर ध्यान देता है। जैन-धर्म कहता है—'वत्थुसहावो धम्मो।' वस्तु का निज स्वभाव ही धर्म है। धर्म कोई पृथक् वस्तु नहीं है। वस्तु का जो अपना मूल स्वभाव है, स्वरूप है, वही धर्म है। और जो पर-वस्तु के संयोग से विगड़ा हुआ स्वभाव है, जिसे दार्शनिक भाषा में विभाव कहते हैं, वही अधर्म है।

उदाहरण के लिए जल को लिया जा सकता है। जल का मूल स्वभाव क्या है ? शीतल रहना, तरल रहना, स्वच्छ रहना ही जल का मूल स्वभाव है। इसके विपरीत उष्ण होना, जम जाना, मलिन होना, असली स्वभाव नहीं है, विभाव है। क्योंकि उष्णता आदि विपरीत धर्म जल में अग्नि आदि दूसरी वस्तु के मेल से आते हैं।

धर्म का शुद्ध स्वरूप

अब हमें विचार करना है कि—हम आत्मा हैं, हमारा स्वभाव या धर्म क्या है ? जो आत्मा का स्वभाव होगा, वही धर्म सच्चा धर्म होगा। उसी से वास्तविक कल्याण हो सकेगा।

आत्मा का धर्म सत्, चित्, और आनन्द है। सत् का अर्थ सत्य है, जो कभी मिथ्या न हो सके। चित् का अर्थ चेतना है, ज्ञान है; जो कभी जड़स्वरूप न हो सके। आनन्द का अर्थ सुख है, जो कभी दुःख-रूप न हो सके। आत्मा का अपना धर्म यही है। इसके विपरीत संसार में भ्रमण करना, मिथ्या विश्वासों में उलझे रहना, अज्ञान से आवृत रहना, आधि-व्याधि आदि का दुःख होना, आत्मा का अपना असली निज-धर्म नहीं है। यह विभाव है, अधर्म है। आत्मा से भिन्न विजातीय कर्मों के मेल के कारण ही यह सब मिथ्या प्रपंच है। यही कारण है कि संसार में सब आत्माएँ एक समान नहीं हैं। सब भिन्न-भिन्न अवस्थाओं और स्वरूपों में चक्कर काट रही हैं। यदि यह सब आत्मा का अपना स्वरूप होता, तो इतनी भिन्नता क्यों होती ? वस्तु का अपना धर्म तो एक ही होता है, वहाँ भेद कैसा ? अस्तु यह सिद्ध है कि आत्मा की यह वर्तमान अवस्था कर्मों का फल है, और इसी कारण भिन्नता है। जैन-धर्म कहता है कि जब आत्मा मोक्ष-दशा में पहुँच जायेगी, तो प्रत्येक आत्मा एक समान हो जायेगी; फलतः वहाँ छोटे-बड़े का, शुद्ध-अशुद्ध का कोई भेद नहीं रहेगा। और मोक्ष का वह शुद्ध स्वरूप ही आत्मा का अपना असली स्वभाव है, धर्म है।

ऊपर की पंक्तियों में आत्मा का धर्म जो सत्, चित्, आनन्द बताया है, वही जैन-आगमों की भाषा में सम्यग् दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र कहलाता है। इन्हीं को रत्नत्रय कहते

हैं। आत्मा की यही अन्तरंग विभूति है, सम्पत्ति है। जब आत्मा विभाव परिणति को त्याग कर स्वभाव परिणति में आता है, तो रत्नत्रय रूप जो अपना शुद्ध स्वरूप है, उसे ही अपनाता है। अस्तु, आत्मा का सच्चा धर्म यही रत्नत्रय है। बाह्याचरणरूप क्रिया-काण्डों में उलझ कर जनता व्यर्थ ही कष्ट पाती है। व भेद-बुद्धि का मार्ग है, अभेद-बुद्धि का नहीं। निश्चय दृष्टि में त यही धर्म का शुद्ध स्वरूप है।

* * *

२९

जातिवाद मानवजाति के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ है। उसके आधार पर धर्म जैसी पवित्र वस्तु को भी टुकड़ों में बाँट दिया गया, और मानव पर भयंकर अत्याचार किए गये।

प्रस्तुत निबन्ध में पढ़िए—जातिवाद के अभिशाप के विरुद्ध महाश्रमण भगवान् महावीर का क्रान्त उद्‌घोष और जातिनिरपेक्ष धर्म संघ की रचना का इतिहास।

भगवान् महावीर और जातिवाद

आजकल भारत का धार्मिक वायुमण्डल बहुत ही क्षोभ और उथल-पुथल से भरा नजर आ रहा है। जिधर देखो उधर ही धार्मिक-क्रान्ति की लहर उठ रही है। आज का युग धार्मिक-संघर्ष का युग माना जाता है। यही कारण है कि वर्तमान युग में धार्मिक विचारों को लेकर अच्छी खासी मुठ-भेड़ होती रहती है।

आजकल जो सबसे बड़ा वैचारिक संघर्ष है, वह है स्पृश्य एवं अस्पृश्य आदि जातिवाद की व्यवस्था के सम्बन्ध में। इस विषय में एक पक्ष कुछ व्यवस्था देता है तो दूसरा पक्ष कुछ और ही। इस समय प्रायः समस्त धार्मिक जगत, स्थिति-पालक और सुधारक नामक दो परस्पर विरुद्ध पक्षों में बँटा हुआ है। दोनों पक्षों की ओर से, अपने-अपने पक्ष की पुष्टि के लिए आकाश-पाताल एक किए जा रहे हैं।

परन्तु वास्तव में सत्य क्या है, यह अभी बीच में ही लटक रहा है। अन्तिम निर्णय के लिए प्रत्येक धर्म वाले अपने-अपने धर्म-प्रवर्तकों को न्यायाधीश के रूप में आगे ला रहे हैं और उनके इस सम्बन्ध में दिए हुए निर्णय प्रकट किए जा रहे हैं। इससे बहुत कुछ सत्य पर प्रकाश पड़ा है, फिर भी वास्तविक निर्णय तो अभी अन्धकार में ही है।

जातिवाद का ताण्डव

आज से करीब ढाई हजार वर्ष पहले स्पृश्य अस्पृश्य के सम्बन्ध में भारत की अब से कहीं अधिक भयंकर स्थिति थी। शूद्रों की छाया तक से घृणा की जाती थी, और उनका मुँह देखना भी बड़ा भारी पाप समझा जाता था। उन्हें सार्वजनिक धर्म-स्थानों एवं सभाओं में जाने का अधिकार नहीं था। और तो क्या, जिन रास्तों पर पशु चल सकते हैं, उन पर भी वे नहीं चल सकते थे। वेद आदि धर्म-शास्त्र पढ़ने तो दूर रहे, बिचारे सुन भी नहीं सकते थे। यदि किसी अभागे ने राह चलते हुए कहीं भूल से सुन लिया, तो उसी समय धर्म के नाम पर दुहाई मच जाती थी, और धर्म के ठेकेदारों द्वारा उसके कानों में खौलता हुआ सीसा भरवा दिया जाता था। कितना घोर अत्याचार! बात यह थी कि तब जातिवाद का बोलबाला था, धर्म के नाम पर अधर्म का विष-वृक्ष सींचा जा रहा था।

भगवान् महावीर की क्रान्ति

जैन धर्म स्पृश्यास्पृश्य और जातिवाद की इस समस्या पर प्रारम्भ से ही उदार दृष्टिकोण अपना कर चला है। अतएव उस युग में भगवान् महावीर ने अपने धर्म संघ में अन्त्यज और अस्पृश्य कहलाने वाले व्यक्तियों को भी वही स्थान दिया, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि उच्च कुलों के लोगों को था।

भगवान् महावीर के इस युगान्तरकारी विधान से ब्राह्मणों एवं दूसरे उच्च वर्णों के लोगों में बड़ी भारी खलबली मची। फलतः उन्होंने इसका यथाशक्य घोर विरोध भी किया। परन्तु भगवान् महावीर आदि से अन्त तक अपने तर्कसंगत मानवीय सिद्धान्त पर अटल रहे। उन्होंने विरोध की तनिक भी परवाह न की।

भगवान् महावीर की व्याख्यान-सभा में, जिसे समवसरण कहते हैं, आने वाले श्रोताओं के लिए कोई भी भेद-भाव नहीं था। उनके उपदेश में जिस प्रकार ब्राह्मण आदि उच्च कुलों के लोग आते-जाते थे, ठीक उसी प्रकार चांडाल आदि भी। बैठने के लिए कुछ पृथक्-पृथक् प्रबन्ध भी नहीं होता था। सब-के-सब लोग परस्पर भाई-भाई की तरह मिल-जुल कर बैठ जाया करते थे। किसी को किसी प्रकार का संकोच नहीं होता था। व्याख्यान-सभा का सबसे पहला कठोर, साथ ही मृदुल नियम यह था कि कोई किसी को अलग बैठने के लिए तथा बैठे हुए को उठ जाने के लिए नहीं कह सकता था। पूर्ण साम्य-वाद का साम्राज्य था, जिसकी जहाँ इच्छा हो, बैठे। उन्हें कोई झिड़कने तथा दुत्कारने वाला नहीं था। क्या मजाल, जो कोई उच्च जाति के अभिमान में आकर कुछ आना-कानी कर सके? यह सब क्यों था? भगवान् महावीर वस्तुतः दीन-बन्धु थे, उन्हें दीनों से प्रेम था।

उदारता का सच्चा दर्शन

भगवान् महावीर के जातिवाद सम्बन्धी उदात्त विचारों के निदर्शन की अनेक घटनाएँ जैन इतिहास में आज भी सुरक्षित हैं। हम यहाँ विस्तार में न जाकर केवल एक घटना का ही उल्लेख करेंगे, जो भगवान् महावीर के उदार जीवन की महत्ता का दिव्य चित्र उपस्थित करती है।

घटना पोलासपुर की है। वहाँ के सद्दालपुत्र नामक कुम्हार की प्रार्थना पर भगवान् महावीर स्वयं उसकी निजी कुम्भकार-शाला में जाकर ठहरे थे। वहीं पर उसको मिट्टी के घड़ों का प्रत्यक्ष दृष्टान्त देकर धर्मोपदेश दिया और अपना धर्मानुयायी बनाया। भविष्य में यही कुम्हार भगवान् महावीर के दश श्रावकों में प्रमुख श्रावक हुआ एवं संघ में बहुत अधिक आदर की दृष्टि से देखा गया। उपासकदशांग सूत्र में इसके वर्णन का एक स्वतन्त्र अध्याय है। जिज्ञासु वहाँ देख सकते हैं। इस पर से भगवान् महावीर का दलित एवं हीन जाति के लोगों के प्रति प्रेम का पूर्ण परिचय मिल जाता है। बड़े-बड़े राजा-महाराजा सेठ-साहूकार और ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि की अपेक्षा भगवान् महावीर ने एक कुम्हार को कितना अधिक महत्व दिया है? विश्व-वंद्य महापुरुष का, एक साधारण कुम्हार के घर पर पधारना, कोई मामूली घटना नहीं है। भगवान् महावीर के उदार विचारों का यह सच्चा चित्र है।

जाति, जन्म से नहीं, कर्म से।

भगवान् महावीर के वर्ण-व्यवस्था-सम्बन्धी विचार अतीव उग्र एवं क्रान्तिकारी थे। वे जन्मतः किसी को ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र आदि नहीं मानते थे। उन्होंने सदा कर्त्तव्य पर ही जोर दिया है। जातिवाद को कभी भी प्रश्रय नहीं दिया। उन्होंने जाति को जन्म से नहीं कर्म से माना है। इस विषय में उनका मुख्य धर्म-सूत्र था—

"कम्मुणा बंभणो होई,
कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होई,
सुद्दो हवइ कम्मुणा॥"

—उत्तराध्ययन २५, ३३

अर्थात्—जन्म की अपेक्षा सब-के-सब मनुष्य हैं। कोई भी व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र होकर नहीं आता। वर्ण-व्यवस्था तो मनुष्य के अपने स्वीकृत कर्त्तव्य से होती है। अतः जो जैसा करता है, वह वैसा ही हो जाता है। अर्थात् कर्तव्य के बल से ब्राह्मण शूद्र हो सकता है, और शूद्र ब्राह्मण हो सकता है।

भगवान् महावीर के संघ में एक मुनि थे। उनका नाम था हरिकेशबल। वे जन्मतः चांडाल-कुल में पैदा हुए थे। उनका इतना त्यागी एवं तपस्वी जीवन था कि बड़े-बड़े सार्वभौम सम्राट् तक भी उन्हें अपना गुरू मानते थे, और सभक्ति-भाव उनके चरण-कमल छुआ करते थे। और तो क्या, बहुत से देवता भी इनके भक्त थे। इन्हीं घोर तपस्वी, हरिजन मुनि हरिकेशबल की गौरव-गाथा के सम्बन्ध में, पावापुरी की महती सभा में भगवान् महावीर ने कहा है—

"सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो,
न दीसई जाइ-विसेस कोई।
सोवाग-पुत्तं हरिएस साहू,
जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा॥"

—उत्तराध्ययन १२, ३७

अर्थात्—प्रत्यक्ष में जो कुछ महत्त्व दिखाई देता है, वह सब गुणों का ही है, जाति का नहीं। जो लोग जाति को महत्त्व देते हैं, वे वास्तव में बहुत भयंकर भूल करते हैं। क्योंकि जाति की महत्ता किसी भाँति भी सिद्ध नहीं होती। चांडाल-कुल में पैदा हुआ हरिकेश मुनि अपने गुणों के बल से आज किस महान् पद पर पहुँचा है। इसकी महत्ता के सामने बिचारे जन्मतः ब्राह्मण क्या महत्ता रखते हैं? महानुभाव हरिकेश में चांडालपन का क्या शेष है, वह तो ब्राह्मणों का भी ब्राह्मण बन गया है।

भगवान् महावीर ने अपने धर्म-प्रचार-काल में जातिवाद का अत्यन्त कठोर और सक्रिय खण्डन किया था, और एक तरह से उस समय जातिवाद का अस्तित्व ही नष्ट सा हो गया था। जहाँ कहीं जातिवाद का प्रसंग आया है, भगवान् महावीर ने केवल पाँच जातियाँ ही स्वीकार की हैं, जो कि जन्म से मृत्यु-पर्यन्त रहती हैं, बीच में भंग नहीं होती। वे पाँच जातियाँ हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। इनके अतिरिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि लौकिक जातियों का जाति-रूप से आगम-साहित्य में कहीं पर भी विधानात्मक उल्लेख नहीं मिलता। यदि श्रमणभगवान् महावीर प्रचलित जातिवाद को सचमुच मानते होते, तो वे वैदिक-धर्म की भाँति कदापि अन्त्यज लोगों को अपने संघ में आदरयोग्य स्थान नहीं देते। भगवान् महावीर के धर्म संघ में चारों वर्णों का विचित्र समन्वय था, भगवान् महावीर स्वयं एक क्षत्रिय कुमार थे, उनके प्रधान शिष्य गौतम क्रियाकाण्डी ब्राह्मण विद्वान् थे, शालिभद्र और धन्ना जैसे श्रेष्ठी (वैश्य) पुत्र भी उनके प्रमुख तपस्वी शिष्यों में थे, तो हरिकेशवल और मेतार्य जैसे शूद्र और अन्त्यज भी उनके धर्मसंघ में प्रतिष्ठित तपस्वी के रूप में आदर प्राप्त कर रहे थे। आनन्द श्रावक जो स्वयं एक बड़ा किसान था, सद्दाल पुत्र जो एक प्रतिष्ठित कुम्हार था। ये दोनों ही भगवान् के एक ही कक्षा के प्रमुख श्रावक थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् महा-वीर ने उस युग के जातिवाद के बन्धनों को तोड़कर एक महान् धर्म क्रान्ति का सूत्रपात किया। भगवान् ने अन्त्यज तो क्या, अनार्यों तथा म्लेच्छों तक को भी दीक्षा लेने का अधिकार दिया है, और अन्त में कैवल्य प्राप्त कर मोक्ष पाने का भी बड़े प्रभावशाली शब्दों में समर्थन किया है। धर्म-शास्त्र पढ़ने-पढ़ाने

के विषय में भी, सबके लिए उन्मुक्त द्वार रखने की आज्ञा दी है। इस विषय में किसी के प्रति किसी भी प्रकार की जाति-सम्बन्धी प्रतिबंधकता का होना, उन्हें कभी भी पसन्द नहीं था।

जातिवाद का खंडन करते हुए भगवान् महावीर ने स्पष्ट शब्दों में जातिवाद को घृणित बताया है, और जातिमद से अकड़ने वाले लोगों को खासी लताड़ बताई है। आठ मदों में प्रथम जातिमद के प्रति भगवान् महावीर का यह कथन है कि 'जातिमद मनुष्य के घोर अधः पतन का कारण है। जो मनुष्य जातिमद में आकर ऐंठने लग जाते हैं, वे इस लोक में भी अपना उच्च व्यक्तित्व खो बैठते हैं और परलोक में भी नरक तिर्यञ्च आदि जघन्य गतियों में घोर यातनाएँ भोगते हैं।' जातिवाद का बहाना लेकर किसी को घृणा की दृष्टि से देखना या अपमानित करना, बड़ा भारी भीषण पाप है। वास्तव में जिन्हें अस्पृश्य समझना चाहिए, वे तो पाप हैं, दुराचार हैं। अतः घृणा के योग्य भी वे ही हैं, न कि मनुष्य ! अतः प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह स्वयं अपने पापों को ही अस्पृश्य समझे और प्रचलित अस्पृश्यता को दूर करने के लिए भरसक प्रयत्न करे।

नीच गोत्र क्या है ?

कुछ लोग उच्च-गोत्र तथा नीच-गोत्र का हवाला देकर भगवान् महावीर को जन्मतः उच्च-नीचता का समर्थक बतलाने की चेष्टा करते हैं, वे यथार्थ में भूलते हैं। उच्च-नीच गोत्रों का वह भाव नहीं है, जैसा कि कुछ लोग समझे हुए हैं। गोत्र-व्यवस्था का यह कोई नियम नहीं है कि वह जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त रहे ही, बीच में परिवर्तित न हो। गोत्र-व्यवस्था का सम्बन्ध भी तो अन्ततोगत्वा गुणों से ही है। इसके लिए भगवान् महावीर के कर्म-सिद्धान्त का तलस्पर्शी परिशीलन

करना चाहिए। विना इसके यथार्थता का भान होना कठिन ही नहीं, अति कठिन है। भगवान् महावीर ने आत्मिक विकास की तरतमता की दृष्टि से साधक-जीवन के लिए चौदह श्रेणियाँ वतलाई हैं, जिन्हें जैनागम की परिभाषा में गुणस्थान कहते हैं। प्रत्येक जीव, जो मोक्ष प्राप्त करता है, इन चौदह गुणश्रेणियों को उत्तीर्ण करता है। इन श्रेणियों के वर्णन में भगवान् महावीर ने कहा है कि मनुष्य को नीच-गोत्र का उदय प्रथम के[1] चार गुण स्थानों तक ही रहता है, आगे के गुण स्थानों में पहुँचते ही नीच-गोत्र नष्ट हो जाता है और उसके स्थान में उच्च-गोत्र का उदय हो जाता है। पाँचवाँ गुणस्थान सदाचारी गृहस्थ का और छठवाँ साधु का होता है, अतः स्पष्ट है कि आचार शुद्ध होते ही मनुष्य नीच-गोत्र से उच्च-गोत्र वाला वन जाता है। यदि गोत्र का सम्वन्ध नियत रूप से आमरण होता, तो भगवान् महावीर यह गुण-सम्वन्धी व्यवस्था कदापि नहीं देते। अस्तु, गोत्र शव्द के वास्तविक अर्थ की अनभिज्ञता के कारण जन्मतः मृत्यु-पर्यन्त उच्च-नीचता के शोर मचाने वाले सज्जन, अपनी भूल को दूर करें और भगवान् महावीर के उदार विचारों को अनुदार वनाने का दुःसाहस न करें।

जैन धर्म का सच्चा उपासक कौन ?

यद्यपि भगवान् महावीर के उत्तरवर्ती आचार्यों में वैदिक परम्परा के निकट सम्पर्क में रहने के कारण जातिवाद के पृष्ठपोषक कुछ विचार घर कर गये हैं। वे भी धर्मस्थान, मन्दिर और भिक्षा आदि के सम्वन्ध में वैदिक परम्परा का अनुसरण करके स्पृश्य अस्पृश्य का भेद खड़ा कर रहे हैं, पर उन्हें समझना

१—पंचम गुणस्थान में नीच-गोत्र के उदय का उल्लेख पशु-जाति के लिए किया गया है, मनुष्य के लिए नहीं।

चाहिए कि यह विचार मूलतः जैन धर्म का एवं हमारे परमाराध्य भगवान् महावीर का नहीं है।

जैन धर्म प्रारम्भ से ही जातिवाद का विरोधी रहा है। इतिहास बताता है कि वैदिक परम्परा के कट्टर जातिवाद के समक्ष श्रमणपरम्परा ने कितना कड़ा संघर्ष किया है। और कितना बलिदान किया है। आचार्य जिनसेन के शब्दों में उसका सदा से यही उद्घोष रहा है कि—'मनुष्य जातिरेकैव'—मनुष्य जाति एक है, मनुष्य-मनुष्य के बीच किसी प्रकार का भेद नहीं है। कोई जन्म से ऊँच-नीच और छोटा-बड़ा नहीं होता, ऊँच-नीच आचरण से होता है।

आज भगवान् महावीर के अनुयायी अपने को परखें कि वे अपने प्रभु के इन उपदेशों पर स्थिर हैं या समय और वातावरण के बहाव में बह गये हैं ? सच्चा अनुयायी वही होता है जो अपने आराध्य के उपदेशों पर आचरण करे, अपने विवेक को जागृत रखे और परिस्थितियों के प्रवाह में न बहे।

आज के युग में जातिवाद के विरुद्ध पुनः जोरदार आवाज उठ रही है। समाज और राष्ट्र जागृति के दौर में चल रहा है। जातिवाद के पुराने आधार टूट गये हैं, मानव-मानव आज फिर प्रेम से गले मिलने को आतुर हैं, एक राष्ट्र ही नहीं, बल्कि समूचा संसार मानव-मानव के बीच किसी प्रकार का रंग, जाति और लिंग का भेदभाव स्वीकार करने को तैयार नहीं है। इन परिस्थितियों में भगवान् महावीर के अनुयायी अपना कर्तव्य समझें, और जातिवाद के इस जहर को मिटाकर अपने को समत्ववादी और बन्धुतावादी जैन धर्म के सच्चे उपासक सिद्ध करें।

* *
*

३०

"वनस्पति में भी हमारी ही तरह चेतना है, प्राण है, और सुख-दुःख की अनुभूति करने की क्षमता है।" जैन धर्म का यह शाश्वत सिद्धान्त कभी कुछ तार्किक और मनचले लोगों के उपहास का विषय था। पर आज प्रकृति विज्ञान की नवीन उपलब्धियों ने इस सिद्धान्त को अक्षरशः सत्य सिद्ध कर दिया है। पढ़िए विज्ञान की उपलब्धियों के रोचक और आश्चर्यजनक प्रमाण।

वनस्पति में जीव

वृक्षों और वनस्पतियों में जीव होने की बात हम भारतवासी आज से नहीं, हजारों वर्षों से मानते आए हैं। हमारे तत्त्व-दर्शी ज्ञानियों ने अपनी विकसित आत्म-शक्ति के द्वारा वनस्पतियों में जीव होने की बात का पता बहुत पहले से ही लगा लिया था। जैन-धर्म में तो स्थान-स्थान पर वृक्षों में जीव होने की घोषणा की गई है। भगवान् महावीर ने आचारांग सूत्र में वनस्पति की तुलना मानव शरीर से बतलाई है। आचारांग का भाव इन शब्दों में प्रकट किया जा सकता है—

(१) जिस प्रकार मनुष्य जन्म लेता है; युवा होता है और बूढ़ा होता है, उसी प्रकार वृक्ष भी तीनों अवस्थाओं का उपभोग करता है।

(२) जिस प्रकार मनुष्य में चेतना-शक्ति होती है, उसी प्रकार वृक्ष भी चेतना-शक्ति रखता है, सुख-दुःख का अनुभव करता है, आघात आदि सहन करता है।

(३) जिस प्रकार मनुष्य सिकुड़ता है, कुम्हलाता है और अन्त में क्षीण होकर मर जाता है, उसी प्रकार वृक्ष भी आयु की समाप्ति पर सिकुड़ता है, कुम्हलाता है और अन्त में मर जाता है।

(४) जिस प्रकार भोजन करने से मनुष्य का शरीर बढ़ता है और न मिलने से सूख जाता है: उसी प्रकार वृक्ष भी खाद और पानी आदि की यथोचित खुराक मिलने से बढ़ता है,विकास पाता है, और उसके अभाव में सूख जाता है।

आज का युग, विज्ञान का युग है। आजकल प्रत्येक वात की परीक्षा वैज्ञानिक प्रयोगों की कसौटी पर चढ़ाकर की जाती है। यदि विज्ञान की कसौटी पर वात खरी उतरती है, तो मानी जाती है, अन्यथा नहीं। जैन-धर्म की यह वृक्ष में जीव होने की वात पहले केवल मजाक की वस्तु समझी जाती थी, परन्तु जब से इधर डा० जगदीशचन्द्र वसु महोदय ने अपने अद्‌भुत आविष्कारों द्वारा यह सिद्ध किया है कि वृक्ष में जीव है, तब से पुराने धर्म-शास्त्रों की खिल्ली उड़ाने वाली जनता आश्चर्य-चकित रह गई है।

वृक्ष और मानव शरीर

वसु महोदय के आविष्कारों से पता चला है कि हमारी ही तरह वृक्षों में भी जीवन है। भोजन, पानी और हवा की जरूरत उन्हें भी पड़ती है। हमारी ही तरह वे भी जिन्दा रहते हैं और बढ़ते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि उनकी जीवन प्रक्रिया का तरीका हम से कुछ भिन्न है।

चलती हुई सांस देख कर ही मनुष्य को जीवित कहा जाता है। पेड़-पौधे भी इसी तरह सांस लेते हैं। और मजा यह है कि

उनका सांस लेने का तरीका हम से बहुत मिलता-जुलता है। हम सिर्फ फेफड़े से ही सांस नहीं लेते, प्रत्युत हमारे शरीर पर लगा चमड़ा भी इस काम में हमारी मदद करता है। ठीक इसी तरह पौधे भी अपने सारे शरीर से सांस लेते हैं। यह कितनी आश्चर्य-जनक बात है कि बीज भी हवा में सांस लेते हैं। ऐसे यन्त्र अब बन गए हैं, जो ठीक नाप-तोल करके बतला देंगे कि अमुक बीजों ने हवा में से इतने समय में इतनी ऑक्सीजन खींच ली है।

पौधों में स्मरण-शक्ति का भी अभाव नहीं है। यह बात सभी जानते हैं कि बहुत से पौधे रात्रि के समीप आने पर अपने पत्तों को सिकोड़ लेते हैं और फल के डंठल को नीचे झुका देते हैं। इसका कारण सूरज की अन्तिम किरणों का पौधों पर पड़ना बताया जाता है। लेकिन वैज्ञानिकों ने प्रयोग करके देखा है कि अंधेरे कमरे में बन्द कर देने से भी, पौधे, ठीक सूर्यास्त के समय अपने पत्तों को समेटने लगते हैं और सूरज के उदय होते ही खिल उठते हैं। सच बात तो यह है कि पौधों के जीवन-कोषों को समय के परिवर्तन का स्मरण रहता है। रजनी गन्धा रात होते ही महकने लगती है।

मानव स्वभाव से वृक्षों की समता

वैज्ञानिकों ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि पौधे पशुओं की तरह सर्दी-गरमी, दुःख-सुख आदि का ज्ञान भी रखते हैं। पौधों में प्यार तथा घृणा का भाव भी विद्यमान है। जो उनके साथ अच्छा व्यवहार करते हैं, उन्हें वे चाहते हैं, और जो उनके साथ दुर्व्यवहार करते हैं, उन्हें वे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। कुछ पौधे बहुत अधिक फैशन-पसन्द होते हैं। गुलाब का फूल तुरन्त बदबू का अनुमान कर लेता है और अपनी पंखुड़ियों को

सिकोड़ लेता है। जरा मैले हाथों से कमल को छू दीजिए, वह मुर्झा जायगा।

चोट लगने या छिल जाने पर जैसे हमें तकलीफ होती है, उसी तरह पौधों को भो होती है। अन्य प्राणियों के समान वृक्षों के शरीर में भी स्नायु-जाल फैला रहता है। जैसे मनुष्य के किसी अंग में पीड़ा होने पर वह स्नायु-सूत्रों के द्वारा सारे शरीर में फैल जाती है, वैसे ही वृक्षों के शरीर में भी आघात की उत्तेजना सर्वत्र फैल जाती है।

अपनी इन्द्रियों द्वारा पौधे सर्दी-गर्मी आदि का तो अनुभव करते ही हैं, साथ ही विष और उत्तेजक पदार्थों का भी उन पर प्रभाव पड़ता है। डा० वसु ने एक यन्त्र ऐसा भी वनाया है, जो नाजुक पत्तियों की धड़कन का पता वताता है। शराव पीकर पौधे भी उत्तेजित हो जाते हैं, इस वात का पता इस यन्त्र की सहायता से सहज ही में लग सकता है। पौधे की जड़ में शराव डाल दो और फिर यन्त्र से उस पौधे को सम्वन्धित कर दो, तो तुम देखोगे कि उसकी पत्तियों में पूर्वापेक्षया अव अधिक धड़कन होने लगी है।

क्या मनुष्य और क्या पशु-पक्षी, सभी दिन-भर काम करने के वाद थक जाते हैं और रात में उन्हें आराम करने की जरूरत पड़ती है। पेड़-पौधे भी इसी प्रकार थक कर रात में आराम करते हैं। सूरज के डूव जाने के वाद यदि तुम वाग में जाओ, तो देखोगे कि पत्तियों का रंग-ढंग दिन-जैसा नहीं है। ऐसा लगता है, जैसे वे चुपचाप पड़ी सो रही हों। 'क्लोवर' नामक पौधे की पत्तियों में यह परिवर्तन वहुत साफ दिखाई देता है। उसकी पत्तियाँ रात के समय झुक कर तने से सट जाती हैं। हिन्दुस्तान

में पाया जाने वाला 'टेलीग्राफ प्लेट' रात में पत्ती पर पत्ती रख कर सोता है।

पौधों की कुछ विचित्र हरकतें

जिस प्रकार मनुष्य के स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं, उसी प्रकार वृक्षों के स्वभाव भी बहुत विचित्र प्रकार के होते हैं। कुछ वृक्ष ऐसे हैं, जो मांसाहार भी करते हैं। मांसाहारी पौधों की लगभग पाँच-सौ जातियाँ पाई गई हैं। एक पौधा 'ब्लैडर वर्ट' होता है, यह जल में रहने वाला है। इसके तने पर छोटे-छोटे थैले से लगे रहते हैं। इन थैलों के मुँह पर एक दरवाज़ा सा लगा रहता है। ज्यों ही कोई कीड़ा अन्दर पहुंचता है, त्यों ही दरवाजा अपने-आप वन्द हो जाता है। विचारा कीड़ा अन्दर-ही-अन्दर छटपटा कर मर जाता है और उसका रक्त वह वृक्ष चूस लेता है।

अफ्रीका के घने जंगलों में ऐसे पेड़ पाये गए हैं, जो वड़े-वड़े जानवरों को भी दूर से अपना शाखा-जाल फैलाकर पकड़ लेते हैं। उनके शिकंजे से निकल भागना फिर असम्भव हो जाता है। ये पेड़ मनुष्यों को भी यथावसर चट कर जाते हैं। मनुष्य के पास आते ही वे उसको भी अपनी टहनियों से पकड़ लेते हैं और चारों ओर से टहनियों के वीच दवा कर रक्त चूस लेते हैं। कितना भयंकर कर्म है इनका ! वृक्षों की सजीवता का यह प्रवल प्रमाण है।

पुनश्च

लेख का उपसंहार किया जा चुका है, तथापि वनस्पति में जीव की सिद्धि के लिए अभी कुछ कहना शेष है। लेखक के सामने विश्व-विहार नामक विज्ञान-सम्वन्धी पुस्तक है, जिसमें इस सम्वन्ध की खासी अच्छी जानकारी संगृहीत है। पाठकों के

ज्ञानवर्द्धन के लिए संक्षेप में उसका सार यहाँ देना अप्रासंगिक न होगा।

वृक्ष, जानवरों से वहुत-सी वातों में मिलते हैं। इस सम्वन्ध में पहली वात तो यह है कि केवल जीव-धारी ही अपने माता-पिता और पड़ौसियों का चरित्र ग्रहण करता है। अस्तु यदि पड़ौस स्वास्थ्यप्रद है, तो पौधे मजबूत और मोटे होंगे। और जिस तरह तन्दुरुस्त वच्चों, स्त्रियों और पुरुषों की मुस्कराहट देख कर जाना जाता है कि वे स्वस्थ हैं, उसी प्रकार पौधों की सुन्दर पत्तियाँ और वढ़िया फूलों से मालूम हो जाता है कि इन्हें अनुकूल पड़ौस मिला है।

जीवित रहने के लिए हमें सांस लेने की जरूरत होती है। यही वात पौधों के लिए भी लागू होती है। पौधे को यदि ऑक्सीजन अर्थात् प्राणप्रद वायु न मिले तो वह सूख कर नष्ट हो जायगा। जिस प्रकार हम अपने नथनों के द्वारा हवा को अन्दर खींचते हैं, उसी प्रकार पौधे भी। यद्यपि पौधों के सांस लेने वाले छिद्र इतने छोटे होते हैं कि उन्हें देखने के लिए अणु-वीक्षण यन्त्र की आवश्यकता होती है। जन्म लेते ही प्रत्येक जन्तु और पौधे का पहला काम सांस लेना है, और वह उसके जीवन के अन्त तक जारी रहता है।

पौधों की लड़ाई भी, जानवरों की लड़ाई की तरह ही भयानक होती है। एक या दो महीने तक यदि फुलवाड़ी में कोई काम न किया जाए, तो नागर मोथा आदि वड़े-वड़े जंगली पौधे उग कर फूलों के दुर्बल पौधों को मार देते हैं। हम प्रायः यह देखते हैं कि वहुत-सी लताएँ और वेलें वृक्षों पर चढ़ कर उन्हीं पर अपनी जड़ जमा लेते हैं, फलतः उनसे खुराक प्राप्त करती हैं, जिससे वे वृक्ष कमजोर होकर एकदिन समाप्त हो जाते हैं।

जिस तरह जानवरों में नर और मादा होते हैं, उसी प्रकार पौधों में भी नर और मादा होते हैं, जिनसे बच्चों की तरह पौधों का जन्म होता है।

जानवर एक खास समय तक काम करने के बाद आराम चाहते हैं। इसी प्रकार पौधे भी साधारणतः दिन में ही काम करते हैं, अर्थात् जमीन से अपनी खूराक खींचते हैं और उसे खाने के काम में लाते हैं। सूर्यास्त के बाद वे अपना काम बन्द कर देते हैं और जिस तरह जानवर सोते हैं, वैसे ही वे भी आराम करते हैं।

जानवरों की तरह पौधे भी आपस में खूब स्पर्धा करते हैं, और अन्त में वही जीत कर जड़ जमा लेता है, जो सबसे अधिक मजबूत होता है।

यदि आप इन सब बातों पर अच्छी तरह विचार करेंगे, तो आप पौधों के साथ भी वैसा ही व्यवहार करने लगेंगे, जैसा कि अपने जानवरों या बच्चों के साथ करते हैं। भगवान् महावीर ने वृक्षों के प्रति भी दयालुता के व्यवहार का उपदेश दिया है, और गृहस्थों को भी वनस्पति के व्यर्थ उन्मूलन से रोका है। आज के युग में तो वृक्ष एक राष्ट्रीय सम्पत्ति के रूप में माने जा रहे हैं, और उन्हें व्यर्थ ही नष्ट करना, कुचलना राष्ट्र की दृष्टि से भी वर्जनीय है और नैतिक दृष्टि से भी।

* *
*

३१

जैनधर्म परलोक का धर्म नहीं, इस लोक का धर्म है। उसमें सेवा, समर्पण और सहयोग की महान् प्रेरणाएँ छिपी हैं। सेवा उसका उत्कृष्ट आदर्श है। सेवा और समर्पण की संस्कृति का शास्त्रीय आधार पर विशद विवेचन प्रस्तुत अध्याय में किया गया है।

जैन-संस्कृति में सेवा-भाव

जैन-संस्कृति की आधार-शिला प्रधानतया निवृत्ति है, अतः उसमें त्याग, वैराग्य, तप और तितिक्षा आदि पर जितना अधिक बल दिया गया है, उतना और किसी नियम-विशेष या सिद्धान्त-विशेष पर नहीं। परन्तु जैन-धर्म की निवृत्ति, साधक को जन-सेवा की ओर अधिक-से अधिक आकर्षित करने के लिए है। जैन-धर्म का आदर्श ही यह है कि प्रत्येक प्राणी एक दूसरे की सेवा करे, सहायता करे और जैसी भी अपनी योग्यता तथा शक्ति हो, उसी के अनुसार दूसरों के काम आए। जैन-धर्म में जीवात्मा का लक्षण[1] ही सामाजिक माना गया है, वैयक्तिक नहीं। प्रत्येक सांसारिक प्राणी अपने सीमित वैयक्तिक-रूप में अपूर्ण है; उसकी पूर्णता आस-पास के समाज में और संघ में निहित है। यही कारण है कि जैन-संस्कृति का जितना अधिक झुकाव आध्यात्मिक-साधना के प्रति है, उतना ही ग्राम, नगर और राष्ट्र के प्रति भी है। ग्राम, नगर और राष्ट्र के प्रति अपने

१—परस्परोपग्रहो जीवानाम्—तत्त्वार्थाधिगमसूत्र ५, २१

कर्तव्यों को जैन-साहित्य में धर्म[1] का रूप दिया गया है। भगवान् महावीर ने अपने धर्म-प्रवचनों में ग्राम-धर्म, नगर-धर्म और राष्ट्र-धर्म को बहुत ऊँचा स्थान दिया है। उन्होंने आध्यात्मिक क्रिया-काण्ड-प्रधान जैन-धर्म की साधना का स्थान ग्राम-धर्म, नगर-धर्म और राष्ट्र-धर्म के बाद ही रखा है, पहले नहीं। एक सभ्य नागरिक एवं राष्ट्र-भक्त ही सच्चा जैन हो सकता है, दूसरा नहीं। उक्त विवेचन के विद्यमान रहते यह कैसे कहा जा सकता है कि—'जैन-धर्म एकान्त निवृत्ति-प्रधान है, अथवा उसका एकमात्र उद्देश्य परलोक ही है, इह लोक नहीं।' जैन-धर्म उधार धर्म नहीं है, अपितु नकद धर्म है। वह इस लोक और परलोक दोनों को ही शानदार बनाने की सत्प्रेरणा प्रदान करता है।

समर्पण का संकल्प

जैन गृहस्थ जब प्रातःकाल उठता है, तो वह तीन बातों[2] का चिन्तन करता है, उनमें सबसे पहला यही संकल्प है कि 'मैं अपने धन का जन-समाज की सेवा के लिए कब त्याग करूँगा? वह दिन धन्य होगा, जब मेरे संग्रह का उपयोग जन-समाज के लिए होगा, दीन-दुःखियों के लिए होगा। भगवान् महावीर का यह आघोष हमारी निद्राभंग करने के लिए पर्याप्त है कि—'**असंविभागी न हु तस्स मुक्खो**[3]।' 'मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने संग्रह के उपभोग का अधिकारी अपने आपको ही न समझे, प्रत्युत, अपने आस-पास के साथियों को भी अपने बराबर का अधिकारी माने। जो मनुष्य अपने साधनों का स्वयं ही उपभोग

१—स्थानांग सूत्र, दशमस्थान।

२—स्थानांग सूत्र ३, ४, २१।

३—दशवैकालिक सूत्र ६, २, २३।

करता है, उसमें से दूसरों की सेवा के लिए कुछ भी अर्पण नहीं करना चाहता, वह अपने बन्धनों को तोड़ कर कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।'

जैन-धर्म में माने गये मूल आठ कर्मों में मोहनीय कर्म का स्थान बड़ा ही भयंकर है। आत्मा का जितना अधिक पतन मोहनीय कर्म के द्वारा होता है, उतना और किसी कर्म से नहीं। मोहनीय कर्म के सबसे अन्तिम उग्र रूप को महामोहनीय कहते हैं। उसके तीस भेदों में से पच्चीसवाँ भेद[१] यह है कि—'यदि आपका साथी बीमार है या किसी घोर संकट में पड़ा हुआ है, और आप उसकी सहायता या सेवा करने में समर्थ हैं, फिर भी यदि आप सेवा न करें और यह विचार करें कि इसने कभी मेरा काम तो किया नहीं, मैं ही इसका काम क्यों करूँ? कष्ट पाता है तो पाए अपनी बला से, मुझे क्या?' भगवान् महावीर ने अपने चम्पापुर के धर्म-प्रवचन में स्पष्ट ही इस सम्बन्ध में कहा है कि—'जो मनुष्य इस प्रकार अपने कर्तव्य के प्रति उदासीन होता है, वह धर्म से सर्वथा पतित हो जाता है। उक्त क्रूर विचारों के पाप के कारण वह ७० कोटाकोटि सागर तक चिरकाल जन्म-मरण के चक्र में उलझा रहेगा, सत्य के प्रति अभिमुख न हो सकेगा।'

सेवा का महान् फल

गृहस्थ ही नहीं, साधु वर्ग को भी सेवा-धर्म का बड़ी कठोरता से पालन करना होता है। भगवान् महावीर ने कहा है कि—'यदि कोई साधु अपने बीमार या संकटापन्न साथी को छोड़

१—दशाश्रुत स्कन्ध-नवम दशा।

कर तपश्चरण करने लग जाता है, शास्त्र-चिन्तन में संलग्न हो जाता है, तो वह अपराधी है; संघ में रहने योग्य नहीं है। उसे एक सौ वीस उपवासों का प्रायश्चित्त लेना पड़ेगा, अन्यथा उसकी शुद्धि नहीं हो सकती।' इतना ही नहीं, एक गाँव में कोई साधु वीमार पड़ा हो और दूसरा साधु जानता हुआ भी गाँव से वाहर ही वाहर एक गाँव से दूसरे गाँव में चला जाए, रोगी की सेवा के लिए गाँव में न आए, तो वह भी अपराधी है,[१] उग्र दण्ड का अधिकारी है।' भगवान् महावीर का कहना है कि 'सेवा स्वयं एक बड़ा भारी तप है।[२] अतः जव भी कभी सेवा करने का पवित्र अवसर मिले, तो उसे नहीं छोड़ना चाहिए। सच्चा जैन वह है, जो सेवा करने के लिए सदा आर्तों की, दीन-दुखियों की, पतितों एवं दलितों की सुधि लेता रहता है।[३]

स्थानांग-सूत्र में भगवान् महावीर की आठ महाशिक्षाएँ वड़ी ही प्रसिद्ध हैं, उनमें पाँचवीं शिक्षा यह है कि—'असंगहीय-परिजणस्स संगिण्हयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ[४]। जो अनाश्रित है, निराधार है, कहीं भी जीवन-यापन के लिए उचित स्थान नहीं पा रहा है, उसे तुम आश्रय दो, सहारा दो, उसकी जीवन-यात्रा के लिए यथोचित प्रवन्ध करो। जैन-गृहस्थ का द्वार प्रत्येक असहाय के लिए खुला हुआ रहता है।[५] वहाँ किसी भी जाति, कुल, देश या धर्म के भेद भाव के विना मानव-मात्र के लिए एक समान आदर भाव है, आश्रय-स्थान है।

१—निशीथ सूत्र उद्देशक ४

२—उत्तराध्ययन, तपोमार्ग अध्ययन।

३—औपपातिक सूत्र, पीठिका।

४—स्थानांग सू ८, ६१।

५—भगवती सूत्र श० २, उ० ४।

एक बात और भी बड़े महत्त्व की है। इस बात ने तो सेवा का स्थान बहुत ही ऊँचा कर दिया है। जैन-धर्म में सबसे बड़ा और ऊँचा पद तीर्थङ्कर का माना गया है। तीर्थङ्कर होने का अर्थ यह है कि वह साधक समाज का पूजनीय महापुरुष देवाधिदेव बन जाता है। भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर दोनों तीर्थङ्कर थे। भगवान महावीर ने अपने जीवन के अन्तिम प्रवचन में सेवा का महत्त्व बताते हुए कहा है कि—'वेयावच्चेण तित्थयर-नामगोत्तं कम्मं निबन्धइ'[1]। अर्थात् वैयावृत्य करने से, सेवा करने से तीर्थङ्कर पद प्राप्ति होती है। साधारण जन-समाज में सेवा की प्रतिष्ठा के लिए भगवान महावीर का यह उदात्त प्रवचन कितना महनीय है?

जन सेवा ही जिन सेवा है

आचार्य हरिभद्र और कमलसंयम ने भगवान् महावीर और गौतम का एक बहुत सुन्दर संवाद हमारे सामने प्रस्तुत किया है। संवाद में भगवान् महावीर ने दुःखितों की सेवा को अपनी सेवा की अपेक्षा भी अधिक महत्त्व दिया है। संवाद का विस्तृत एवं स्पष्ट रूपक इस प्रकार है:—

श्री इन्द्रभूति गौतम ने—जो भगवान् महावीर के सबसे बड़े गणधर थे—भगवान् महावीर से पूछा—"भगवन्! एक भक्त दिन-रात आपकी सेवा करता है, आपकी पूजा-अर्चना करता है, है, फलतः उसे दूसरे दीन दुःखियों की सेवा के लिए अवकाश नहीं मिल पाता। दूसरा सज्जन दीन-दुःखियों की सेवा करता है, सहायता करता है, जन-सेवा में स्वयं को घुला-मिला देता है, जन-जीवन पर दया का वर्षण करता है, फलतः उसे आपकी

---

[1] —उत्तराध्ययन सूत्र २९, ४३।

सेवा के लिए अवकाश नहीं मिल पाता। भन्ते ! दोनों में आपकी ओर से धन्यवाद का पात्र कौन है और दोनों में श्रेष्ठ कौन है ?"

भगवान् महावीर ने बड़े रहस्य-भरे स्वर में उत्तर दिया—"गौतम ! जो दीन-दुःखियों की सेवा करता है, वह श्रेष्ठ है, वही मेरे धन्यवाद का पात्र है और वही मेरा सच्चा पुजारी है[१] ।" गौतम विचार में पड़ गए कि यह क्या ? भगवान् की सेवा के सामने अपने ही दुष्कर्मों से दुःखित पापात्माओं की सेवा का क्या महत्व ? धन्यवाद तो भगवान् के सेवक को मिलना चाहिए। गौतम ने जिज्ञासा-भरे स्वर में पूछा—"भन्ते ! कुछ समझ नहीं पाया ? दुःखितों की सेवा की अपेक्षा तो आपकी सेवा का अधिक महत्व होना चाहिए ? कहाँ तीन लोक के नाथ पवित्रात्मा आप और कहाँ संसार के वे पामर प्राणी, जो अपने ही कृत-कर्मों का फल भोग रहे हैं ?

भगवान् ने उत्तर दिया–"गौतम ! मेरी सेवा, मेरी आज्ञा के पालन करने में ही तो है। इसके अतिरिक्त अपनी व्यक्तिगत सेवा के लिए तो मेरे पास कोई स्थान ही नहीं है। मेरी सबसे बड़ी आज्ञा यही है कि दुःखित जन-समाज की सेवा की जाय, उसे सुख-शान्ति पहुँचाई जाय । प्राणी-मात्र पर दया-भाव रखा जाय । अतः दुखियों की सेवा करने वाला मेरी आज्ञा का पालक है। गौतम ! इसलिए मैं कहता हूँ कि दुखियों की सेवा करने वाला ही धन्य है, श्रेष्ठ है, मेरी निजी सेवा करने वाला नहीं। मेरा निजी सेवक सिद्धान्त की अपेक्षा व्यक्तिगत मोह में अधिक उलझा हुआ है।"

१—आवश्यक सूत्र, (हारीभद्रीय टीका)

२—उत्तराध्ययन, (सर्वार्थ-सिद्धि टीका) परीषह अध्ययन ।

वरावर सुरक्षित रखते हैं। मध्यकाल में जगडूशाह, पेथड़ और भामाशाह जैसे धन-कुबेर भी, जन-समाज के कल्याण के लिए अपने सर्वस्व की आहुति दे डालते हैं, और स्वयं वरसने के वाद रिक्त वादल की-सी स्थिति में हो जाते हैं।

जैन-समाज ने जन-समाज की क्या सेवा की है, इसके लिए सुदूर इतिहास को अलग रहने दीजिए, केवल गुजरात, मारवाड़,मेवाड़ या कर्नाटक आदि प्रान्तों का एक वार भ्रमण कर जाइए, इधर-उधर खंडहरों के रूप में पड़े हुए ईट-पत्थरों पर नजर डालिए, पहाड़ों की चट्टानों पर के शिलालेख पढ़िए, जहाँ-तहाँ देहात में फैले हुए जन-प्रवाद सुनिए, आपको मालूम हो जायगा कि जैन-संस्कृति क्या है ? उसके साथ जन-सेवा का कितना अधिक घनिष्ठ सम्वन्ध है ? जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, संस्कृति व्यक्ति की नहीं होती, समाज की होती है, और समाज की संस्कृति का यह अर्थ है कि समाज अधिक-से-अधिक सेवा की भावना से ओत-प्रोत हो, उसमें द्वेष नहीं, प्रेम हो, द्वैत नहीं,अद्वैत हो, एक रंग-ढंग हो, एक रहन-सहन हो, एक परिवार हो। संस्कृति का यह विशाल आदर्श जैन-संस्कृति में किस प्रकार पूर्णतया घटित हुआ है, इसके लिए जैन-धर्म का गौरव-पूर्ण उज्ज्वल अतीत पूर्ण रूपेण साक्षी है। मैं आशा करता हूँ, आज का वर्तमान जैन-समाज भी अपने महान् अतीत के गौरव की रक्षा करेगा, और भारत की वर्तमान विकट परिस्थिति में विना किसी जाति,धर्म, कुल या देश के भेद-भाव के दरिद्र-नारायण की सेवा में अग्रणी वनेगा, और जन-सेवा को ही भगवान की सच्ची उपासना समझेगा।

* *
*